

# गद्य भंडार

पाठ्य-पुस्तक

बी.कॉम /एम.बी.एस. बी.कॉम(हानर्स) बी.कॉम(इन्श्युरेन्स)  
(B.Com /MBS B.Com(Hon)/B.Com  
(Insurance)/ Language Under AECC)

प्रथम सेमिस्टर/ I SEMESTAR

संपादक  
डॉ. प्रभु उपासे  
डॉ. सुधामणी. एस

प्रकाशक  
प्रसारांग  
बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय  
बेंगलूरु - 560001

# **GADYA BHANDAR**

**Edited by:**

Dr. Prabhu Upase

Dr. Sudhamani

@बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण – 2021

**Pages: 70**

प्रधान संपादक

डॉ. शेखर

मूल्य :-

प्रकाशक

प्रसारांग

बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय

बेंगलूरु – 560001

## भूमिका

बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय में 2021-22 शैक्षिक वर्ष से एन.ई.पी-2020 नियम (पद्धति) के अनुसार स्नातक वर्गों के लिए नया पाठ्यक्रम जारी किया जा रहा है।

इस पाठ्यक्रम की संरचना ऐसी की गई है कि इसके अध्ययन के पश्चात् हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी यह जान सके कि साहित्य का विश्लेषण और सराहना कैसे किया जाए और दिये गये पाठ को पढ़ने की समझ किस प्रकार विकसित की जाए, ताकि विद्यार्थी भाषा और साहित्य के उद्देश्य से भली-भाँति परिचित हो सके। जैसे विज्ञान और आदि विषयों के अध्ययन के साथ यह भी अधिक उपयोगी हैं। एन.ई.पी. सेमिस्टर पद्धति के अनुसार पाठ्यक्रम निर्माण किया गया है।

इस पृष्ठभूमि में हिन्दी अध्ययन-मण्डल ने विभागाध्यक्ष डॉ. शेखर के मार्गदर्शन में पाठ्य-पुस्तक का निर्माण किया है।

विश्वास है कि यह गद्य संकलन छात्र समुदाय के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। विश्वविद्यालय की यह शुभेच्छा है कि साहित्य और समाजशास्त्रीय विषयों के लिए भी अधिक उपयोगी और प्रासंगिक लगे। इस पाठ्य पुस्तक के निर्माण में योग देनेवाले सभी के प्रति विश्वविद्यालय आभारी है।

डॉ. लिंगराज गांधी  
कुलपति  
बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय  
बेंगलूरु-560001

## प्रधान संपादक की कलम से.....

बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय शैक्षिक क्षेत्र में नये-नये विषयों को अपने अध्ययन की सीमा में ले रहा है। अध्ययन को नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 के अनुसार प्रस्तुति करने का प्रयत्न हो रहा है। साहित्यिक विषयों को आज की बदलती परिस्थिति के अनुसार रखने के उद्देश्य से पाठ्यक्रम को प्रस्तुत किया जा रहा है।

एन.ई.पी.सेमिस्टर पध्दति के अनुसार स्नातक वर्गों के लिए पाठ्यक्रम का निर्माण किया जा रहा है। इस पाठ्य पुस्तक के निर्माण में योग देने वाले सम्पादकों के प्रति मैं आभारी हूँ।

इस नयी पाठ्य पुस्तक के निर्माण में कुलपति महोदय डॉ. लिंगराज गांधी जी ने अत्यधिक प्रोत्साहन दिया, तदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

इस पाठ्यक्रम को नयी शिक्षा नीति के ध्येयोद्देश्य को ध्यान में रखते हुए किया गया है। गद्य के निनिध आयामों को इस पाठ्य पुस्तक में शामिल किए गए। आशा है कि सभी विद्यार्थीगण इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

डॉ. शेखर  
अध्यक्ष (बी.ओ.एस)  
बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय  
बेंगलूरु-560001

## अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृ. सं
1.	संस्कृति क्या है? (निबंध) -रामधारी सिंह दिनकर	01-08
2.	सुहाग की साडी (कहानी) -प्रेमचन्द	09-22
3.	गिल्लू (रेखा चित्र) - महादेवी वर्मा	23-28
4.	सपनों की याद (संस्मरण) -जाबीर हुसैन	29-33
5.	बांकेलाल की कुर्सी (व्यंग्य) - सरोजिनी प्रितम	34-39
6.	बीमार का ईलाज (एकांकी) - उदय शंकर भट्ट	40-53
7.	ठेले पर हिमालय (यात्रा वृत्तांत) - डॉ.धर्मवीर भारती	54-63
8.	गिरगिट का सपना (बाल साहित्य) - मोहन राकेश	64-69

# 1. संस्कृति है क्या ?

- रामधारी सिंह दिनकर

लेखक परिचय:-

'रामधारी सिंह दिनकर' जी का जन्म 24 सितंबर 1908 को बिहार के बेगूसराय जिले के सिमरिया गाँव में हुआ था। 1928 में मैट्रिक के बाद दिनकर ने पटना विश्वविद्यालय से 1932 में इतिहास में बी. ए. ऑनर्स किया। वे बी.ए. बाद वे एक विद्यालय में अध्यापक रहे। 1934 से 1948 तक बिहार सरकार की सेवा में सब-रजिस्टार और प्रचार विभाग के उप निदेशक पदों पर कार्य किया। भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति के बाद भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार बने। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ राजेंद्र प्रसाद ने उन्हें 1959 में पद्म-विभूषण और संस्कृति के चार अध्याय पुस्तक के लिये साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा उर्वशी काव्य के लिये भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

*(प्रस्तुत निबंध प्राचीन भारत के विभिन्न सम्प्रदायों, धर्मों, जातियों और संस्कृतियों की मूलभूत एकता और उनकी विषमता को रेखांकित करनेवाली अमूल्य कृति है। इस निबंध में दिनकरजी ने संस्कृति तथा सभ्यता का तात्पर्य, विभिन्न अंतर, मानव के विभिन्न गुणों का वास्तविक मूल्यांकन किया है। संस्कृति तथा सभ्यता के असली अर्थ को बहुत सुंदर ढंग से विभिन्न उदहरणों द्वारा वर्णन किया है। यह निबंध बहुत रोचक एवं बोधनात्मक तथा संवेदनात्मक है और गम्भीर-चिन्तन दृष्टि की झाँकी हमें मिलती है। वे हमें बताते हैं कि जातियों का सांस्कृतिक विनाश तब होता है, जब वे अपनी परम्पराओं को*

भूलकर दूसरों की परम्पराओं का अनुकरण करने लगती हैं तथा सांस्कृतिक दास्तां का भयानक रूप वह होता है जब कोई अपनी भाषा को छोड़कर दूसरों की भाषा को अपना लेता है। फलस्वरूप यह होता है कि वह आदमी अपना व्यक्तित्व खो बैठता है और उसके स्वाभिमान का विनाश हो जाता है। )

~\*~

संस्कृति एक ऐसी चीज है जिसे लक्षणों से तो हम जान सकते हैं, किन्तु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते। कुछ अंशों में वह सभ्यता से भिन्न गुण है। अंग्रेजी में कहावत है कि सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है। मोटर, महल, सड़क, हवाई, जहाज, पोशाक और अच्छा भोजन-ये तथा इनके समान सारी अन्य स्थूल वस्तुएँ संस्कृति नहीं, सभ्यता के समान हैं। मगर पोशाक पहनने और भोजन करने में जो कला है वह संस्कृति की चीज है। इसी प्रकार मोटर बनाने और उसका उपयोग करने, महलों के निर्माण में रुचि का परिचय देने और सड़कों तथा हवाई जहाजों की रचना में जो ज्ञान लगता है, उसे अर्जित करने में संस्कृति अपने को व्यक्त करती है।

हर सुसभ्य आदमी सुसंस्कृत ही होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अच्छी पोशाक पहननेवाला आदमी भी तबीयत (चरित्र) से नंगा हो सकता है और तबीयत से नंगा होना संस्कृति के खिलाफ बात है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि हर सुसंस्कृत आदमी सभ्य भी होता है, क्योंकि सभ्यता की पहचान सुख-सुविधा और ठाट-बाट हैं। मगर बहुत-से ऐसे लोग हैं जो सड़े-गले झोंपड़ों में रहते हैं, जिनके पास कपड़े भी

नहीं होते और न कपड़े पहनने के अच्छे ढंग ही उन्हें मालूम होते हैं, लेकिन फिर उनमें विनय और सदाचार होता है, वे दूसरों के दुख से दुखी होते हैं तथा दुख को दूर करने के लिए वे खुद मुसीबत उठाने को भी तैयार रहते हैं।

छोटा नागपुर की आदिवासी जनता पूर्ण रूप से सभ्य तो नहीं कही जा सकती; क्योंकि सभ्यता के बड़े-बड़े उपकरण उसके पास नहीं हैं, लेकिन, दया-माया, सच्चाई और सदाचार उसमें कम नहीं है। अतएव उसे सुसंस्कृत समझने में कोई उज्र नहीं होना चाहिए। प्राचीन भारत में ऋषिगण जंगलों में रहते थे और जंगलों में वे कोठे और महल बनाकर नहीं रहते थे। फूस की झोपड़ियों में वास करना, जंगल के जीवों से दोस्ती और प्यार करना, किसी भी मोटे काम को अपने हाथ से करने में हिचकिचाहट नहीं दिखाना, पत्तों में खाना और मिट्टी के बर्तनों में रसोई पकाना-यही उनकी जिन्दगी थी और ये लक्षण आज की यूरोपीय परिभाषा के अनुसार सभ्यता के लक्षण नहीं माने जाते हैं। फिर भी वे ऋषिगण सुसंस्कृत ही नहीं थे, बल्कि वे हमारी जाति की संस्कृति का निर्माण करते थे। सभ्यता और संस्कृति में यह एक मौलिक भेद है जिसे समझे बिना हमें कहीं-कहीं कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है।

मगर यह कठिनाई कहीं-कहीं ही आती है। साधारण नियम यही है कि संस्कृति और सभ्यता की प्रगति अधिकतर एक साथ होती है और दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव भी पड़ता रहता है। उदाहरण के लिए, हम जब कोई घर बनाने लगते हैं, तब स्थूल रूप से यह सभ्यता का कार्य होता है। मगर हम घर का कौन-सा नक्शा पसन्द करते हैं, इसका निर्णय हमारी

संस्कृतिक रुचि करती है और संस्कृति की प्रेरणा से हम जैसा घर बनाते हैं, वह फिर हमारी सभ्यता का अंग बन जाता है। इस प्रकार सभ्यता पर पड़नेवाले प्रभाव का क्रम निरन्तर चलता ही रहता है।

यहीं एक यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि संस्कृति और प्रकृति में भी भेद है। गुस्सा करना मनुष्य की प्रकृति है, लोभ में पड़ना उसका स्वभाव है; ईर्ष्या, मोह, राग द्वेष और कामवासना-ये सबके सब प्रकृत के गुण हैं। मगर प्रकृति के ये गुण बेरोक छोड़ दिए जाएँ तो आदमी और जानवर में कोई भेद नहीं रह जाए। इसलिए मनुष्य प्रकृति के इन आवेगों पर रोक लगाता है और कोशिश करता है कि वह गुस्से के बस में नहीं, बल्कि गुस्सा ही उसके बस में रहे; वह लोभ, मोह, ईर्ष्या द्वेष और कामवासना का गुलाम नहीं, बल्कि ये दुर्गुण ही उसके गुलाम रहें और इन दुर्गुणों पर आदमी जितना विजयी होता है, उसकी संस्कृति भी उतनी ही ऊँची समझी जाती है।

निष्कर्ष यह कि संस्कृत सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज होती है। यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगन्ध और सभ्यता की अपेक्षा यह टिकाऊ भी अधिक है, क्योंकि सभ्यता की सामग्रियाँ टूट-फूटकर विनष्ट हो सकती हैं, लेकिन संस्कृति का विनाश उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता। एक बात और है कि सभ्यता के उपकरण जल्दी से बटोरे भी जा सकते हैं, मगर उनके उपयोग के लिए जो उपयुक्त संस्कृति चाहिए वह तुरन्त नहीं आ सकती। जो आदमी अचानक धनी हो जाता है या एकाएक किसी ऊँचे पद पर पहुँच जाता है, उसे चिढ़ाने के लिए

अँग्रेजी में एक शब्द 'अपस्टार्ट' है। अपस्टार्ट को लोग बुरा समझते हैं और इसलिए बुरा नहीं समझते हैं कि अचानक धनी हो जाना या एकाएक ऊँचे पद पर पहुँच जाना कोई बुरी बात है, मगर इसलिए कि धनियों तथा ऊँचे ओहदे पर पहुँचा हुआ व्यक्ति यदि पहले से अधिक विनयशील नहीं हो जाए तो वह चिढ़ाने लायक हो जाता है।

संस्कृति ऐसी चीज नहीं कि जिसकी रचना दस-बीस या सौ-पचास वर्षों में की जा सकती हो। अनेक शताब्दियों तक एक समाज के लोग जिस तरह खाते-पीते रहते-सहते, पढ़ते-लिखते, सोचते-समझते और राज-काज चलाते अथवा धर्म-कर्म करते हैं, उन सभी कार्यों से उनकी संस्कृति उत्पन्न होती है। हम जो कुछ भी करते हैं, उसमें हमारी संस्कृति की झलक होती है; यहाँ तक कि हमारे उठने-बैठने, पहनने-ओढ़ने, घूमने-फिरने और रोने-हँसने में भी हमारी संस्कृति की पहचान होती है, यद्यपि हमारा कोई भी एक काम हमारी संस्कृति का पर्याय नहीं बन सकता। असल में संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज से मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है। और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी सन्तानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है, जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए तथा जिसकी रचना विकास से अनेक सदियों के

अनुभवों का हाथ है। यही नहीं, बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मान्तर तक करती है।

अपने यहाँ एक साधारण कहावत है कि जिसका जैसा संस्कार है, उसका वैसा ही पुनर्जन्म भी होता है। जब हम किसी बालक या बालिका को बहुत तेज पाते हैं, तब हम अचानक कह उठते हैं कि यह पूर्वजन्म का संस्कार है। संस्कार या संस्कृति असल में शरीर का नहीं, आत्मा का गुण है और जबकि सभ्यता की सामग्रियों से हमारा संबंध शरीर के साथ ही छूट जाता है, तब भी हमारी संस्कृति का प्रभाव हमारी आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है।

आदिकाल से हमारे लिए जो लोग काव्य और दर्शन रचते आए हैं, चित्र और मूर्ति बनाते आए हैं, वे हमारी संस्कृति के रचयिता हैं। आदिकाल से हम जिस-जिस रूप में शासन चलाते आए हैं, पूजा करते आए हैं, मन्दिर और मकान बनाते आए हैं, नाटक और अभिनय करते आए हैं बरतन और घर के दूसरे सामान बनाते आए हैं, कपड़े और जेवर पहनते आए हैं, शादी और श्राद्ध करते आए हैं, पर्व और त्योहार मनाते आए हैं अथवा परिवार, पड़ोसी और संसार में दोस्ती या दुश्मनी का जो भी सलूक करते आए हैं, वह सबका सब हमारी संस्कृति का ही अंश है। संस्कृति के उपकरण हमारे पुस्तकालय और संग्रहालय (म्यूजियम), नाटक शाला और सिनेमा घर ही नहीं, बल्कि हमारे राजनीतिक और आर्थिक संगठन भी होते हैं, क्योंकि उन पर हमारी रुचि और चरित्र की छाप लगी होती है।

संस्कृति का स्वभाव यह है कि वह अदान-प्रदान से बढ़ती है। जब भी दो देश वाणिज्य व्यापार अथवा शत्रुता या

मित्रता के कारण आपस में मिलते हैं, तब उनके संस्कृतियाँ एक दूसरे को प्रभावित करने लगती है। ठीक, उसी प्रकार, जैसे दो व्यक्तियों की संगती का प्रभाव दोनों पर पड़ती है। संसार में, शायद ही ऐसा कोई देश हो जो यह दावा कर सकें कि उस पर किसी अन्य देश की संस्कृति का प्रभाव नहीं पड़ा है। इसी प्रकार कोई जाति भी यह नहीं कह सकती कि उस पर किसी दूसरी जाति का प्रभाव नहीं है। जो जाति केवल देना ही जानती है, लेना कुछ नहीं, उस संस्कृति का एक-न-एक दिन दिवाला निकल जाता है इसके विपरीत, जिस जलाशय के पानी लानेवाले के दरवाजे बराबर खुले रहते हैं। उसकी संस्कृति कभी नहीं सूखती। उसमें सदा ही स्वच्छ जल लहराता रहता है और कमल के फूल खिलते रहते हैं। कूपमण्डूकता और दुनिया से रूठकर अलग बैठाने का भाव संस्कृति को ले डूबता है। अक्सर देखा जाता है कि जब हम एक भाषा में किसी अदभुत कला को विकसित होते देखते हैं, तब तूरंत आस-पड़ोस या संपर्कवाली दूसरी भाषा में हम उसके उसकी खोज करते हैं।

पहले एक भाषा में शैली और कीट्स पैदा होते हैं, तब दूसरी भाषा में रवींद्र उत्पन्न होते हैं। पहले एक देश में बुद्ध पैदा होते हैं, तब दूसरे देश में ईसा मसीह का जन्म होता है। अगर मुसलमान इस देश में नहीं आए होते तो कबीर का जन्म नहीं होता, न मोगल कलम की चित्रकारी ही यहाँ पैदा हुई होती। अगर यूरोप से भारत का संपर्क नहीं हुआ होता तो भारत की विचारधारा पर विज्ञान का प्रभाव देर से पड़ता और राजा राममोहन राय, दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद और गांधी में से कोई भी सुधारक उस समय जन्म नहीं लेते, जिस

समय उनका जन्म हुआ। जब भी दो जतियाँ मिलाती है, उनके संपर्क या संघर्ष से जिंदगी की एक नई धारा फूट निकलती है। जिसका प्रभाव दानों पर पडता है। अदन प्रदान की प्रक्रिया संस्कृति की जान है और इसीके के सहारे वह अपने को जिंदा रखती है।

केवल चित्र कविता मूर्ति मकान और पौषक पर ही नहीं संस्कृतिक संपर्क का प्रभाव दर्शन और विचार पर भी पडता है। एक देश में जो दार्शनिक और महात्मा संपूर्ण होते है, उनकी आवाज दूसरे देशों में भी मिलते-जुलते, दार्शनीकों और महात्माओं को जन्म देती है एक देश में जो धर्म खड़ा होता है वह दूसरे देशों में धर्मों को भी बहुत कुछ बादल देता है। यही नहीं बाल्की प्राचीन जगत में तो बहुत से ऐसी देवी-देवता भी मिलते हैं जो कई जातियों के संस्कारों से निकलकर एक जगह जमा हुए हैं। एक जाति का धार्मिक रिवाज दूसरी जाति का रिवाज बन जाता है और एक देश की आदत दूसरे देश के लोगों की आदत में समा जाति है अतएव सांस्कृतिक दृष्टि से वह देश और वह जाति अधिक शक्तिशालीनी और महान समझी जानी चाहिए जिसने विश्व के अधिक से अधिक देशों अधिक से अधिक जातियों की संस्कृतियों को अपने भीतर जज्बा करके, उन्हें पचा करके बड़े से बड़े समन्वय को ऊद्र किया है। भारतवर्ष ऐसे देशों में अग्रणी और हिंदू जाति ऐसी जातियों में महान है और अत्यंत प्राचीनकाल से ही संस्कृतियों का यहाँ जो समन्वय होता रहा है उसकी कहानी सचमुच मनोरंजक और मजेदार है।

~Ω~

## 2. सुहाग की साड़ी

~ मुंशी प्रेमचंद

लेखक का परिचय:-

प्रेमचंद का जन्म 31 जुलाई 1980 को वाराणसी जिले उत्तर प्रदेश के लमही गाँव में एक कायस्थ परिवार में हुआ। उनकी माता आनन्दी देवी तथा पिता मुंशी अजायबराय था, जो लमही में डाक मुंशी थे। उनका मूल नाम धनपत राय श्रीवास्तव था। 1898 में मैट्रिक के बाद वे एक स्थानीय विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गए। नौकरी के साथ ही उन्होंने पढ़ाई जारी रखी। 1921 ई. में असहयोग आन्दोलन के दौरान सरकारी नौकरी छोड़कर, महात्मा गाँधी के आह्वान पर स्कूल इंस्पेक्टर पद से 23 जून को त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद उन्होंने लेखन को अपना व्यवसाय बना लिया। 1922 में प्रकाशित 'प्रेमाश्रम' हिंदी में किसानों के सवाल पर लिखा गया पहला उपन्यास है।

*(प्रस्तुत कहानी 'सुहाग की साड़ी' मानसरोवर-सातवे भाग से ली गई है। यह कहानी भारतीय स्वतंत्रता- आंदोलन के नेपथ्य में रची गई है। स्वदेशी -आंदोलन के नेपथ्य में रची गयी है। स्वदेशी यज्ञ में रतनसिंह ने अपना नया विलायती सूट को आहुती देता है इसके साथ उनकी पत्नी जौरा अपने सुहाग की साड़ी कोयज्ञ कुंड में आहुती दे देती है। जमींदारी वर्ग के लोग त्याग निचले वर्ग के लोगों को भी त्याग करने की प्रेरणा देती है। जमींदारी वर्ग के लोग त्याग और बलिदान के पथ पर अग्रसर होकर आम जनता को भी स्वदेशी आंदोलन में भागीदार बनाने के प्रेरणा के पुंज बनते हैं।)*

~\*~

~ 9 ~

यह कहना भूल है कि दाम्पत्य-सुख के लिए स्त्री-पुरुष के स्वभाव में मेल होना आवश्यक है। श्रीमती गौरा और श्रीमान् कुँवर रतनसिंह में कोई बात न मिलती थी। गौरा उदार थी, रतनसिंह कौड़ी-कौड़ी को दाँतों से पकड़ते थे। वह हँसमुख थी, रतनसिंह चिंताशील थे। वह कुल-मर्यादा पर जान देती थी, रतनसिंह इसे आडम्बर समझते थे। उनके सामाजिक व्यवहार और विचार में भी घोर अंतर था। यहाँ उदारता की बाजी रतनसिंह के हाथ थी। गौरा को सहभोज से आपत्ति थी, विधवा-विवाह से घृणा और अछूतों के प्रश्न से विरोध। रतनसिंह इन सभी व्यवस्थाओं के अनुमोदक थे।

राजनीतिक विषयों में यह विभिन्नता और भी जटिल थी! गौरा वर्तमान स्थिति को अटल, अमर, अपरिहार्य समझती थी, इसलिए वह नरम-गरम, कांग्रेस, स्वराज्य, होमरूल सभी से विरक्त थी। कहती-‘ये मुट्टी भर पढ़े-लिखे आदमी क्या बना लेंगे, चने कहीं भाड़-फोड़ सकते हैं?’ पक्के आशावादी थे रतनसिंह, राजनीतिक सभा की पहली पंक्तियों में बैठनेवाले, कर्मक्षेत्र में सबसे पहले कदम उठानेवाले, स्वदेश व्रतधारी और बहिष्कार के पूरे अनुयायी। इतनी विषमताओं पर भी उनका दाम्पत्य-जीवन सुखमय था। कभी-कभी उनमें मतभेद अवश्य हो जाता था, पर वे समीर के वे झोंके थे, जो स्थिर जल को हलकी लहरों से आभूषित कर देते हैं। वे प्रचंड झोंके नहीं जिनसे सागर विप्लवक्षेत्र बन जाता है। थोड़ी-सी सदिच्छा सारी विषमताओं और मतभेदों का प्रतिकार कर देती थी।

विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलायी जा रही थीं। स्वयंसेवकों के जत्थे भिखारियों की भाँति द्वारों पर खड़े हो-हो कर विलायती कपड़ों की भिक्षा माँगते थे और ऐसा कदाचित् ही कोई द्वार था जहाँ उन्हें निराश होना पड़ता हो। खद्दर और गाढ़े के दिन फिर गये थे। नयनसुख, नयनदुख, मलमल और तनजेब तनबेध हो गये थे। रतनसिंह ने आकर गौरा से कहा- लाओ, अब सब विदेशी कपड़े संदूक से निकाल दो, दे दूँ।

गौरा-अरे तो इसी घड़ी कोई साइत निकली जाती है, फिर कभी दे देना।

रतन-वाह, लोग द्वार पर खड़े कोलाहल मचा रहे हैं और तुम कहती हो, फिर कभी दे देना।

गौरा-तो यह कुंजी लो, निकाल कर दे दो। मगर यह सब है लड़कों का खेल। घर फूँकने से स्वराज्य न कभी मिला है और न मिलेगा।

रतन-मैंने कल ही तो इस विषय पर तुमसे घंटों सिरपच्ची की थी और उस समय तुम मुझसे सहमत हो गयी थीं, आज तुम फिर वही शंकाएँ करने लगीं?

गौरा-मैं तुम्हारे अप्रसन्न हो जाने के डर से चुप हो गयी थी।

रतन-अच्छा, शंकाएँ फिर कर लेना, इस समय जो करना है वह करो।

गौरा-लेकिन मेरे कपड़े तो न लोगे न?

रतन-सब देने पड़ेंगे, विलायत का एक सूत भी घर में रखना मेरे प्रण को भंग कर देगा।

इतने में रामटहल साईस ने बाहर से पुकारा-सरकार, लोग जल्दी मचा रहे हैं, कहते हैं, अभी कई मुहल्लों का चक्कर लगाना है। कोई गाढ़े का टुकड़ा हो तो मुझे भी मिल जाय, मैंने भी अपने कपड़े दे दिये।

केसर महरी कपड़ों की एक गठरी लेकर बाहर जाती हुई दिखायी दी। रतनसिंह ने पूछा-क्या तुम भी अपने कपड़े देने जाती हो?

केसर ने लजाते हुए कहा-हाँ सरकार, जब देश छोड़ रहा है तो मैं कैसे पहनूँ? रतनसिंह ने गौरा की ओर आदेशपूर्ण नेत्रों से देखा। अब वह विलम्ब न कर सकी। लज्जा से सिर झुकाये संदूक खोलकर कपड़े निकालने लगी। एक संदूक खाली हो गया तो उसने दूसरा संदूक खोला। सबसे ऊपर एक सुंदर रेशमी सूट रखा हुआ था जो कुँवर साहब ने किसी अँगरेजी कारखाने में सिलाया था।

गौरा ने पूछा-क्या सूट भी निकाल दूँ?

रतन-हाँ-हाँ, इसे किस दिन के लिए रखोगी?

गौरा-यदि मैं यह जानती कि इतनी जल्दी हवा बदलेगी तो कभी यह सूट न बनवाने देती। सारे रुपये खून हो गये।

रतनसिंह ने कुछ उत्तर न दिया। तब गौरा ने अपना संदूक खोला और जलन के मारे स्वदेशी-विदेशी सभी कपड़े निकाल-निकाल कर फेंकने लगी। वह आवेश-प्रवाह में आ गयी। उनमें कितनी ही बहुमूल्य फैसी जाकेट और साड़ियाँ थीं जिन्हें किसी समय पहन कर वह फूली न समाती थी। बाज-बाज साड़ियों के लिए तो उसे रतनसिंह से बार-बार तकाजे करने पड़े थे। पर इस समय सब की सब आँखों में खटक रही

थीं। रतनसिंह उसके भावों को ताड़ रहे थे। स्वदेशी कपड़ों का निकाला जाना उन्हें अखर रहा था, पर इस समय चुप रहने ही में कुशल समझते थे। तिस पर भी दो-एक बार वाद-विवाद की नौबत आ ही गयी। एक बनारसी साड़ी के लिए तो वह झगड़ बैठे, उसे गौरा के हाथों से छीन लेना चाहा, पर गौरा ने एक न मानी, निकाल ही फेंका। सहसा संदूक में से एक केसरिया रंग की तनजेब की साड़ी निकल आयी जिस पर पक्के आँचल और पल्ले टँके हुए थे। गौरा ने उसे जल्दी से लेकर अपनी गोद में छिपा लिया।

रतनसिंह ने पूछा-कैसी साड़ी है।

गौरा-कुछ नहीं, तनजेब की साड़ी है। आँचल पक्का है।

रतन-तनजेब की है तब तो जरूर ही विलायती होगी। उसे अलग क्यों रख लिया? क्या वह बनारसी साड़ियों से अच्छी है?

गौरा-अच्छी तो नहीं है, पर मैं इसे न दूँगी।

रतन-वाह, विलायती चीज को मैं न रखने दूँगा। लाओ इधर।

गौरा-नहीं, मेरी खातिर से इसे रहने दो।

रतन-तुमने मेरी खातिर से एक भी चीज न रखी, मैं क्यों तुम्हारी खातिर करूँ।

गौरा-पैरों पड़ती हूँ, जिद न करो।

रतन-स्वदेशी साड़ियों में से जो चाहो रख लो, लेकिन इस विलायती चीज को मैं न रखने दूँगा। इसी कपड़े की बदौलत हम गुलाम बने, यह गुलामी का दारा मैं अब नहीं रख सकता। लाओ इधर।

गौरा-मैं इसे न दूँगी, एक बार नहीं हज़ार बार कहती हूँ कि न दूँगी।

रतन-मैं इसे लेकर छोड़ूँगा, इस गुलामी के पटके को, इस दासत्व के बंधन को किसी तरह न रखूँगा।

गौरा-नाहक जिद करते हो।

रतन-आखिर तुमको इससे क्यों इतना प्रेम है?

गौरा-तुम तो बाल की खाल निकालने लगते हो। इतने कपड़े थोड़े हैं? एक साड़ी रख ही ली तो क्या?

रतन-तुमने अभी तक इन होलियों का आशय ही नहीं समझा।

गौरा-खूब समझती हूँ। सब ढोंग है। चार दिन में जोश ठंडा पड़ जायेगा।

रतन-तुम केवल इतना बतला दो कि यह साड़ी तुम्हें क्यों इतनी प्यारी है, तो शायद मैं मान जाऊँ।

गौरा-यह मेरी सुहाग की साड़ी है।

रतन-(जरा देर सोच कर) तब तो मैं इसे कभी न रखूँगा। मैं विदेशी वस्त्र को यह शुभस्थान नहीं दे सकता। इस पवित्र संस्कार का यह अपवित्र स्मृति-चिह्न घर में नहीं रख सकता। मैं इसे सबसे पहले होली की भेंट करूँगा। लोग कितने हतबुद्धि हो गये थे कि ऐसे शुभ कार्यों में भी विदेशी वस्तुओं का व्यवहार करने में संकोच न करते थे। मैं इसे अवश्य होली में दूँगा।

गौरा-कैसा असगुन मुँह से निकालते हो।

रतन-ऐसी सुहाग की साड़ी का घर में रखना ही अशकुन, अमंगल, अनिष्ट और अनर्थ है।

गौरा-यों चाहे जबरदस्ती छीन ले जाओ, पर खुशी से न दूँगी।

रतन-तो फिर मैं जबरदस्ती ही करूँगा। मजबूरी है। यह कह कर वह लपके कि गौरा के हाथों से साड़ी छीन लूँ। गौरा ने

उसे मजबूती से पकड़ लिया और रतन की ओर कातर नेत्रों से देखकर कहा-तुम्हें मेरे सिर की कसम।

केसर महरी बोली-बहू जी की इच्छा है तो रहने दीजिए। रतनसिंह के बढ़े हुए हाथ रुक गये, मुख मलिन हो गया। उदास हो कर बोले-मुझे अपना व्रत तोड़ना पड़ेगा। प्रतिज्ञा-पत्र पर झूठे हस्ताक्षर करने पड़ेंगे। खैर, यही सही।

3

शाम हो गयी थी। द्वार पर स्वयंसेवकगण शोर मचा रहे थे, कुँवर साहब जल्दी आइए, श्रीमती जी से भी कह दीजिए, हमारी प्रार्थना स्वीकार करें। बहुत देर हो रही है। उधर रतनसिंह असमंजस में पड़े हुए थे कि प्रतिज्ञा-पत्र पर कैसे हस्ताक्षर करूँ। विदेशी वस्त्र घर में रख कर स्वदेशी व्रत का पालन क्योंकर होगा? आगे कदम बढ़ा चुका हूँ, पीछे नहीं हट सकता। लेकिन प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करना अभीष्ट भी तो नहीं, केवल उसके आशय पर लक्ष्य रहना चाहिए। इस विचार से मुझे प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने का पूरा अधिकार है। त्रिया-हठ के सामने किसी की नहीं चलती। यों चाहूँ तो एक ताने में काम निकल सकता है, पर उसे बहुत दुःख होगा, बड़ी भावुक है, उसके भावों का आदर करना मेरा कर्तव्य है। गौरा भी चिंता में डूबी हुई थी। सुहाग की साड़ी सुहाग का चिह्न है, उसे आग... कितने अशकुन की बात है। ये कभी-कभी बालकों की भाँति जिद करने लगते हैं, अपनी धुन में किसी की सुनते नहीं। बिगड़ते हैं तो मानो मुँह ही नहीं सीधा होता।

लेकिन वे बेचारे भी तो अपने सिद्धांतों से मजबूर हैं। झूठ से उन्हें घृणा है। प्रतिज्ञा-पत्र पर झूठी स्वीकृति लिखनी पड़ेगी,

उनकी आत्मा को बड़ा दुःख होगा, घोर धर्मसंकट में पड़े होंगे, यह भी तो नहीं हो सकता कि सारे शहर में स्वदेशानुरागियों के सिरमौर बन कर उस प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने से आनाकानी करें। कहीं मुँह दिखाने को जगह न रहेगी, लोग समझेंगे, बना हुआ है। पर शकुन की चीज कैसे दूँ?

इतने में उसने रामटहल साईस को सिर पर कपड़ों का गट्टर लिये बाहर जाते देखा। केसर महरी भी एक गट्टर सिर पर रखे हुए थी। पीछे-पीछे रतनसिंह हाथ में प्रतिज्ञा-पत्र लिये जा रहे थे। उनके चेहरे पर ग्लानि की झलक थी जैसे कोई सच्चा आदमी झूठी गवाही देने जा रहा हो। गौरा को देखकर उन्होंने आँखें फेर लीं और चाहा कि उसकी निगाह बचाकर निकल जाऊँ। गौरा को ऐसा जान पड़ा कि उनकी आँखें डबडबायी हुई हैं। वह राह रोककर बोली-जरा सुनते जाओ।

रतन-जाने दो, दिक न करो; लोग बाहर खड़े हैं।

उन्होंने चाहा कि पत्र को छिपा लूँ; पर गौरा ने उसे उनके हाथ से छीन लिया, उसे गौर से पढ़ा और एक क्षण चिन्तामग्न रहने के बाद बोली-वह साड़ी भी लेते जाओ।

रतन-रहने दो, अब तो मैंने झूठ लिख ही दिया।

गौरा-मैं क्या जानती थी कि तुम ऐसी कड़ी प्रतिज्ञा कर रहे हो।

रतन-यह तो मैं तुमसे पहले कह चुका था।

गौरा-मेरी भूल थी, क्षमा कर दो और इसे लेते जाओ।

रतन-जब तुम इसे देना अशकुन समझती हो तो रहने दो। तुम्हारी खातिर थोड़ा-सा झूठ बोलने में मुझे कोई आपत्ति नहीं

गौरा-नहीं, लेते जाओ। अमंगल के भय से तुम्हारी आत्मा का हनन नहीं करना चाहती।

यह कहकर उसने अपनी सुहाग की साड़ी उठाकर पति के हाथों में रख दी। रतन ने देखा, गौरा के चेहरे पर एक रंग आता है, एक रंग जाता है, जैसे कोई रोगी अंतरस्थ विषम वेदना को दबाने की चेष्टा कर रहा हो। उन्हें अपनी अहृदयता पर लज्जा आयी। हा ! केवल अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए, अपनी आत्मा के सम्मान के लिए, मैं इस देवी के भावों का वध कर रहा हूँ ! यह अत्याचार है। साड़ी गौरा को दे कर बोले-तुम इसे रख लो, मैं प्रतिज्ञा-पत्र को फाड़े डालता हूँ।

गौरा ने दृढ़ता से कहा-तुम न ले जाओगे तो मैं खुद जा कर दे आऊँगी। रतनसिंह विवश हो गये। साड़ी ली और बाहर चले आये।

#### 4

उसी दिन से गौरा के हृदय पर एक बोझ-सा रहने लगा। वह दिल बहलाने के लिए नाना उपाय करती; जलसों में भाग लेती, सैर करने जाती, मनोरंजक पुस्तकें पढ़ती, यहाँ तक कि कई बार नियम के विरुद्ध थियेटर्स में भी गयी, किसी प्रकार अमंगल कल्पना को शान्त करना चाहती थी, पर यह आशंका एक मेघमंडल की भाँति उसके हृदय पर छायी रहती थी।

जब एक पूरा महीना गुजर गया और उसकी मानसिक वेदना दिनोंदिन बढ़ती ही गयी तो कुँवर साहब ने उसे कुछ दिनों के लिए अपने इलाके पर ले जाने का निश्चय किया। उसका मन उन्हें उनके आदर्श-प्रेम का नित्य तिरस्कार किया करता था। वह अक्सर देहातों में प्रचार का काम करने जाया करते थे ! पर अब अपने गाँवों से बाहर न जाते, या जाते तो संध्या तक जरूर लौट आते। उनकी एक दिन की देर, उनका

साधारण सिर दर्द और जुकाम उसे अव्यवस्थित कर देते थे। वह बहुधा बुरे स्वप्न देखा करती। किसी अनिष्ट के काल्पनिक अस्तित्व की छाया उसे अपने चारों ओर मँडराती हुई प्रतीत होती थी। वह तो देहात में पड़ी हुई आशंकाओं की कठपुतली बनी हुई थी। इधर उसकी सुहाग की साड़ी स्वदेश-प्रेम की वेदी पर भस्म होकर ऋद्धि-प्रदायिनी भभूत बनी हुई थी। दूसरे महीने के अन्त में रतनसिंह उसे ले कर लौट आये।

## 5

गौरा को वापस आये तीन-चार दिन हो चुके थे, पर असबाब के सँभालने और नियत स्थान पर रखने में वह इतनी व्यस्त रही कि घर से बाहर न निकल सकी थी। कारण यह था कि केसर महरी उसके जाने के दूसरे ही दिन छोड़कर चली गयी थी और अभी उतनी चतुर दूसरी महरी मिली न थी। कुँवर साहब का साईस रामटहल भी छोड़ गया था। बेचारे कोचवान को साईस का भी काम करना पड़ता था।

संध्या का समय था। गौरा बरामदे में बैठी आकाश की ओर एकटक होकर ताक रही थी। चिन्ताग्रस्त प्राणियों का एकमात्र यही अवलम्ब है! सहसा रतनसिंह ने आकर कहा-चलो, आज तुम्हें स्वदेशी बाजार की सैर करा लावें। यह मेरा ही प्रस्ताव था, पर चार दिन यहाँ आये हो गये, उधर जाने का अवकाश ही न मिला।

गौरा-मेरा तो जाने को जी नहीं चाहता। यहीं बैठकर कुछ बातें करो।

रतन-नहीं, चलो देख आवें। एक घंटे में लौट आवेंगे।

अंत में गौरा राजी हो गयी। इधर महीनों से बाहर न निकली थी। आज उसे चारों तरफ एक विचित्र शोभा दिखायी दी। बाजार कभी इतनी रौनक पर न था। वह स्वदेशी बाजार में पहुँची तो जुलाहों और कोरियों को अपनी-अपनी दुकानें सजाये बैठे देखा। सहसा एक वृद्ध कोरी ने आकर रतनसिंह को सलाम किया।

रतनसिंह चौंककर बोले-रामटहल, तुम अब कहाँ हो? रामटहल का चेहरा श्रीसम्पन्न था। उसके अंग-अंग से आत्म-सम्मान की आभा झलक रही थी। आँखों में गौरव-ज्योति थी। रतनसिंह को कभी अनुमान न हुआ था कि अस्तबल साफ करनेवाला बुढ़ा रामटहल इतना सौम्य, इतना भद्र पुरुष है। वह बोला-सरकार, अब तो अपना कारबार करता हूँ। जब से आपकी गुलामी छोड़ी तब से अपने काम में लग गया। आप लोगों की निगाह हम गरीबों पर हो गयी हमारा भी गुजर हो रहा है, नहीं तो आप जानते ही हैं, कि किस हालत में पड़ा हुआ था। जात का कोरी हूँ, पर पापी पेट के लिए चमार बन गया था।

रतन-तो भाई, अब मुँह मीठा कराओ। यह बाजार लगाने की मेरी ही सलाह थी, बिक्री तो अच्छी होती है।

रामटहल-हाँ सरकार ! आजकल खूब बिक्री हो रही है। माल हाथो-हाथ उड़ जाता है। यहाँ बैठते हुए एक महीना हो गया है, पर आपकी कृपा से लोगों के चार पैसे थे वे बेबाक हो गये। भगवान् की दया से रूखा-सूखा भोजन भी दोनों समय मिल जाता है और क्या चाहिए। मलकिन की सुहाग की साड़ी का होली में आना कहिए और बाजार का चमकना कहिए। लोगों ने कहा, जब इतने बड़े आदमी हो कर ऐसे शकुन की

चीज की परवाह नहीं करते तो फिर हम विदेशी कपड़े क्यों रखें। जिस दिन होली जली है उसके दो-तीन दिन पहले ही सरकार इलाके पर चले गये थे। उसके पहले भी सरकार कई दिनों तक घर से बहुत कम निकलते थे। मैं तो यही कहूँगा कि यह सारी माया उसी सुहाग की साड़ी की है।

इतने में एक अधेड़ स्त्री गौरा के सामने आ कर बोली- बहू जी, मुझे भूल तो नहीं गयीं?

गौरा ने सिर उठाया तो सामने केसर महरी खड़ी थी। वह सुंदर साड़ी पहने हुए थी, हाथ-पाँव में मामूली गहने भी थे, चेहरा खिला हुआ था। स्वाधीन जीवन का गौरव एक-एक भाव से प्रस्फुटित हो रहा था।

गौरा ने कहा-इतनी जल्दी भूल जाऊँगी? अब कहाँ हो? हमें लौटने भी न दिया, बीच में ही उड़ भागी।

केसर-क्या करूँ सरकार, अपना काम चलते देख कर सबर न हो सका। जब तक रोजगार न चलता था तब तक लाचारी थी। पेट के लिए सेवा-टहल, करम-कुकरम सभी करना पड़ता था। अब आप लोगों की दया से हमारे भी दिन लौटे हैं, अब दूसरा काम नहीं किया जाता। अगर बाजार का यही रंग रहा तो अपनी कमाई खाये न चुकेगी। यह सब आपकी साड़ी की महिमा है। उसकी बदौलत हम गरीबों के कितने ही घर बस गये। एक महीना पहले इन दूकानवालों में से किसी को रोटियों का ठिकाना न था। कोई साईसी करता था, कोई तासे बजाता था, यहाँ तक कि कई आदमी मेहतर का काम करते थे। कितने ही भीख माँगते थे। अब सब अपने धंधे में लग गये हैं। सच पूछो तो तुम्हारी सुहाग की साड़ी ने हमें

सुहागिन बना दिया, नहीं तो हम सुहागिन होते हुए भी विधवाएँ थीं। सच कहती हूँ, सैकड़ों जबानों से नित्य यही दुआ निकलती है कि आपका सुहाग अमर हो, जिसने हमारी राँड़ जात को सुहाग दान दिया।

रतनसिंह एक दूकान पर बैठकर कुछ कपड़े देखने लगे। गौरा का भावुक हृदय आनंद से पुलकित हो रहा था। उसकी सारी अमंगल कल्पनाएँ स्वप्नवत् विच्छिन्न होती जाती थीं। आँखें सजल हो गयी थीं और सुहाग की देवी अश्रुसंचित नेत्रों के सामने खड़ी आँचल फैला कर उसे आशीर्वाद दे रही थी।

उसने रतनसिंह को भक्तिपूर्ण आँखों से देख कर कहा- मेरे लिए भी एक साड़ी ले लो।

जब गौरा यहाँ से चली तो सड़क की बिजलियाँ जल चुकी थीं। सड़कों पर खूब प्रकाश था। उसका हृदय भी आनंद के प्रकाश से जगमगा रहा था।

रतनसिंह ने पूछा-सीधे घर चलूँ?

गौरा-नहीं, छावनी की तरफ होते चलो।

रतन-बाजार खूब सजा हुआ था।

गौरा-यह जमीन ले कर एक स्थायी बाजार बनवा दो। स्वदेशी कपड़ों की दूकानें हों और किसी से किराया न लिया जाय।

रतन-बहुत खर्च पड़ेगा।

गौरा-मकान बेच दो, रुपये ही रुपये हो जायेंगे।

रतन-और रहें, पेड़ तले?

गौरा-नहीं, गाँववाले मकान में।

रतन-सोचूँगा।

गौरा-(जरा देर में) इलाके-भर में खूब कपास की खेती कराओ, जो कपास बोये उसकी बेगार माफ़ कर दो।

रतन-हाँ, तदबीर अच्छी है, दूनी उपज हो जायेगी।

गौरा-(कुछ देर सोचने के बाद) लकड़ी बिना दाम दो तो कैसा हो? जो चाहे, चरखे बनवाने के लिए काट ले जाये।

रतन-लूट मच जायेगी।

गौरा-ऐसी बेईमानी कोई न करेगा। जब उसने गाड़ी से उतर कर घर में कदम रखा तो चित्त शुभ-कल्पनाओं से प्रफुल्लित हो रहा था। मानो कोई बछड़ा खूँटे से छूटकर किलोलें कर रहा हो।

~Ω~

### 3. गिल्लू

महादेवी वर्मा

लेखिका परिचय:-

महादेवी वर्माजी का जन्म 26 मार्च 1907 को प्रातः 8बजे फ़र्रुखाबाद उत्तर प्रदेश में हुआ। उनके परिवार में लगभग 200 वर्षों या सात पीढ़ियों के बाद पहली बार पुत्री का जन्म हुआ था। अतः इन्हें घर की देवी- महादेवी मानते हुए पुत्री का नाम महादेवी रखा गया। उनके पिता श्री गोविंद प्रसाद वर्मा भागलपुर के एक कॉलेज में प्राध्यापक थे। उनकी माता का नाम हेमरानी देवी था। 1921 में महादेवी जी ने आठवीं कक्षा में प्रान्त भर में प्रथम स्थान प्राप्त किया। यहीं पर उन्होंने अपने काव्य जीवन की शुरुआत की। वे सात वर्ष की अवस्था से ही कविता लिखने लगी थीं। 1932 में जब उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. पास किया तब तक उनके दो कविता संग्रह नीहार तथा रश्मि प्रकाशित हो चुके थे।

उन्हें 1943 में मंगलाप्रसाद पारितोषिक एवं भारत भारती पुरस्कार, 1956 में भारत सरकार ने उनकी साहित्यिक सेवा के लिये "पद्म भूषण" और 1988 में मरणो परांत "पद्म विभूषण" उपाधि से सम्मानित किया। 1971 में साहित्य अकादमी की सदस्यता ग्रहण करने वाली वे पहली महिला थीं।

*(गिल्लू महादेवी वर्मा की "मेरा परिवार" नामक कृति से लिया गया एक भाग है जिसमें लेखिका ने एक गिलहरी का मनुष्य के प्रति प्रेम भाव का वर्णन किया गया है यह उनके एक निजी जीवन के असल घटना पर आधारित है।)*

~\*~

सोनजुही में आज एक पीली कली लगी है। इसे देखकर अनायास ही उस छोटे जीव का स्मरण हो आया, जो इस लता की सघन हरीतिमा में छिपकर बैठता था और फिर मेरे निकट पहुंचते ही कंधे पर कूदकर मुझे चौंका देता था। तब मुझे कली की खोज रहती थी, पर आज उस लघुप्राण की खोज है। परंतु वह तो अब तक इस सोनजुही की जड़ में मिट्टी होकर मिल गया होगा। कौन जाने स्वर्णिम कली के बहाने वही मुझे चौंकाने ऊपर आ गया हो!

अचानक एक दिन सवेरे कमरे से बरामदे में आकर मैंने देखा, दो कौवे एक गमले के चारों ओर चोंचों से छूआ-छुआवल जैसा खेल खेल रहे हैं। यह काकभुशुंडि भी विचित्र पक्षी है- एक साथ समादरित, अनादरित, अति सम्मानित, अति अवमानित। हमारे बेचारे पुरखे न गरूड़ के रूप में आ सकते हैं, न मयूर के, न हंस के। उन्हें पितरपक्ष में हमसे कुछ पाने के लिए काक बनकर ही अवतीर्ण होना पड़ता है। इतना ही नहीं हमारे दूरस्थ प्रियजनों को भी अपने आने का मधु संदेश इनके कर्कश स्वर में ही देना पड़ता है। दूसरी ओर हम कौवा और कांव-कांव करने को अवमानना के अर्थ में ही प्रयुक्त करते हैं।

मेरे काकपुराण के विवेचन में अचानक बाधा आ पड़ी, क्योंकि गमले और दीवार की संधि में छिपे एक छोटे-से जीव पर मेरी दृष्टि रफ़क गई। निकट जाकर देखा, गिलहरी का छोटा-सा बच्चा है जो संभवतः घोंसले से गिर पड़ा है और अब कौवे जिसमें सुलभ आहार खोज रहे हैं।

काकद्वय की चोंचों के दो घाव उस लघुप्राण के लिए बहुत थे, अतः वह निश्चेष्ट-सा गमले से चिपटा पड़ा था। सबने कहा, कौवे की चोंच का घाव लगने के बाद यह बच नहीं सकता, अतः इसे ऐसे ही रहने दिया जावे। परंतु मन नहीं माना- उसे हौले से उठाकर अपने कमरे में लाई, फिर रूई से रक्त पोंछकर घावों पर पेंसिलिन का मरहम लगाया। रूई की पतली बत्ती दूध से

भिगोकर जैसे-तैसे उसके नन्हे से मुँह में लगाई पर मुँह खुल न सका और दूध की बूंदें दोनों ओर ढुलक गईं।

कई घंटे के उपचार के उपरांत उसके मुँह में एक बूंद पानी टपकाया जा सका। तीसरे दिन वह इतना अच्छा और आश्चस्त हो गया कि मेरी उंगली अपने दो नन्हे पंजों से पकड़कर, नीले कांच के मोतियों जैसी आंखों से इधर-उधर देखने लगा।

तीन-चार मास में उसके स्निग्ध रोए, झब्बेदार पूंछ और चंचल चमकीली आंखें सबको विस्मित करने लगीं। हमने उसकी जातिवाचक संज्ञा को व्यक्तिवाचक का रूप दे दिया और इस प्रकार हम उसे गिल्लू कहकर बुलाने लगे। मैंने फूल रखने की एक हलकी डलिया में रूई बिछाकर उसे तार से खिड़की पर लटका दिया। वही दो वर्ष गिल्लू का घर रहा। वह स्वयं हिलाकर अपने घर में झूलता और अपनी कांच के मनकों-सी आंखों से कमरे के भीतर और खिड़की से बाहर न जाने क्या देखता-समझता रहता था। परंतु उसकी समझदारी और कार्यकलाप पर सबको आश्चर्य होता था। जब मैं लिखने बैठती तब अपनी ओर मेरा ध्यान आकर्षित करने की उसे इतनी तीव्र इच्छा होती थी कि उसने एक अच्छा उपाय खोज निकाला।

वह मेरे पैर तक आकर सर्र से परदे पर चढ़ जाता और फिर उसी तेजी से उतरता। उसका यह दौड़ने का क्रम तब तक चलता जब तक मैं उसे पकड़ने के लिए न उठती। कभी मैं गिल्लू को पकड़कर एक लंबे लिफ़ाफ़े में इस प्रकार रख देती कि उसके अगले दो पंजों और सिर के अतिरिक्त सारा लघुगात लिफ़ाफ़े के भीतर बंद रहता। इस अद्भुत स्थिति में कभी-कभी घंटों मेज़ पर दीवार के सहारे खड़ा रहकर वह अपनी चमकीली आंखों से मेरा कार्यकलाप देखा करता।

भूख लगने पर चिक-चिक करके मानो वह मुझे सूचना देता और काजू या बिस्कुट मिल जाने पर उसी स्थिति में लिफ़ाफ़े से

बाहर वाले पँजों से पकड़कर उसे कुतरता रहता। फिर गिल्लू के जीवन का प्रथम बसंत आया। नीम-चमेली की गंध मेरे कमरे में हौले-हौले आने लगी। बाहर की गिलहरियाँ खिड़की की जाली के पास आकर चिक-चिक करके न जाने क्या कहने लगीं? गिल्लू को जाली के पास बैठकर अपनेपन से बाहर झाँकते देखकर मुझे लगा कि इसे मुक्त करना आवश्यक है।

मैंने कीलें निकालकर जाली का एक कोना खोल दिया और इस मार्ग से गिल्लू ने बाहर जाने पर सचमुच ही मुक्ति की सांस ली। इतने छोटे जीव को घर में पले कुत्ते, बिल्लियों से बचाना भी एक समस्या ही थी। आवश्यक कागज़-पत्रों के कारण मेरे बाहर जाने पर कमरा बंद ही रहता है। मेरे कॉलेज से लौटने पर जैसे ही कमरा खोला गया और मैंने भीतर पैर रखा, वैसे ही गिल्लू अपने जाली के द्वार से भीतर आकर मेरे पैर से सिर और सिर से पैर तक दौड़ लगाने लगा। तब से यह नित्य का क्रम हो गया।

मेरे कमरे से बाहर जाने पर गिल्लू भी खिड़की की खुली जाली की राह बाहर चला जाता और दिन भर गिलहरियों के झुंड का नेता बना हर डाल पर उछलता-कूदता रहता और ठीक चार बजे वह खिड़की से भीतर आकर अपने झूले में झूलने लगता। मुझे चौंकाने की इच्छा उसमें न जाने कब और कैसे उत्पन्न हो गई थी। कभी फूलदान के फूलों में छिप जाता, कभी परदे की चुन्नट में और कभी सोनजुही की पत्तियों में।

मेरे पास बहुत से पशु-पक्षी हैं और उनका मुझसे लगाव भी कम नहीं है, परंतु उनमें से किसी को मेरे साथ मेरी थाली में खाने की हिम्मत हुई है, ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता। गिल्लू इनमें अपवाद था। मैं जैसे ही खाने के कमरे में पहुंचती, वह खिड़की से निकलकर आंगन की दीवार, बरामदा पार करके मेज़ पर पहुंच जाता और मेरी थाली में बैठ जाना चाहता। बड़ी कठिनाई से मैंने उसे थाली के पास बैठना सिखाया जहां

बैठकर वह मेरी थाली में से एक-एक चावल उठाकर बड़ी सफ़ाई से खाता रहता। काजू उसका प्रिय खाद्य था और कई दिन काजू न मिलने पर वह अन्य खाने की चीजें या तो लेना बंद कर देता या झूले से नीचे फेंक देता था।

उसी बीच मुझे मोटर दुर्घटना में आहत होकर कुछ दिन अस्पताल में रहना पड़ा। उन दिनों जब मेरे कमरे का दरवाज़ा खोला जाता गिल्लू अपने झूले से उतरकर दौड़ता और फिर किसी दूसरे को देखकर उसी तेज़ी से अपने घोंसले में जा बैठता। सब उसे काजू दे आते, परंतु अस्पताल से लौटकर जब मैंने उसके झूले की सफ़ाई की तो उसमें काजू भरे मिले, जिनसे ज्ञात होता था कि वह उन दिनों अपना प्रिय खाद्य कितना कम खाता रहा। मेरी अस्वस्थता में वह तकिए पर सिरहाने बैठकर अपने नन्हे-नन्हे पंजों से मेरे सिर और बालों को इतने हौले-हौले सहलाता रहता कि उसका हटना एक परिचारिका के हटने के समान लगता।

गर्मियों में जब मैं दोपहर में काम करती रहती तो गिल्लू न बाहर जाता न अपने झूले में बैठता। उसने मेरे निकट रहने के साथ गर्मी से बचने का एक सर्वथा नया उपाय खोज निकाला था। वह मेरे पास रखी सुराही पर लेट जाता और इस प्रकार समीप भी रहता और ठंडक में भी रहता। गिलहरियों के जीवन की अवधि दो वर्ष से अधिक नहीं होती, अतः गिल्लू की जीवन यात्रा का अंत आ ही गया। दिन भर उसने न कुछ खाया न बाहर गया। रात में अंत की यातना में भी वह अपने झूले से उतरकर मेरे बिस्तर पर आया और ठंडे पंजों से मेरी वही उंगली पकड़कर हाथ से चिपक गया, जिसे उसने अपने बचपन की मरणासन्न स्थिति में पकड़ा था। पंजे इतने ठंडे हो रहे थे कि मैंने जागकर हीटर जलाया और उसे उष्णता देने का प्रयत्न किया। परंतु प्रभात की प्रथम किरण के स्पर्श के साथ ही वह किसी और जीवन में जागने के लिए सो गया। उसका झूला

उतारकर रख दिया गया है और खिड़की की जाली बंद कर दी गई है, परंतु गिलहरियों की नयी पीढ़ी जाली के उस पार चिक-चिक करती ही रहती है और सोनजुही पर बसंत आता ही रहता है।

सोनजुही की लता के नीचे गिल्लू को समाधि दी गई है- इसलिए भी कि उसे वह लता सबसे अधिक प्रिय थी- इसलिए भी कि उस लघुगात का, किसी वासंती दिन, जुही के पीताभ छोटे फूल में खिल जाने का विश्वास, मुझे संतोष देता है।

~Ω~

## 4. साँवले सपनों की याद

-जाबिर हुसैन

लेखक परिचय:-

जाबिर हुसैन का जन्म सन् 1945 में नौनहीं राजगीर गाँव, नालंदा जिला, बिहार में हुआ। अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य के प्राध्यापक रहे। राजनीति में सक्रिय भाग ले कर 1977 में मुंगेर से बिहार विधानसभा के सदस्य निर्वाचित हुए मंत्री बने। सन् 1995 से बिहार विधान परिषद के सभापति रहे। हुसैन हिंदी, उर्दू तथा अंग्रेजी तीनों भाषाओं में समान अधिकार के साथ लेखन करते रहे हैं। उनकी हिंदी रचनाओं में जो आगे हैं, डोला बीवी का मजार, अतीत का चेहरा, एक नदी रेत भरी प्रमुख हैं। अपने लंबे राजनीतिक- सामाजिक जीवन के अनुभवों में उपस्थित आम आदमी के संघर्षों को उन्होंने अपने साहित्य में प्रकट किया है। संघर्ष प्रताप आदमी और विशिष्ट व्यक्तियों पर चर्चित प्रशंशित हुई हैं। हुसैन ने डायरी विधा में एक अभिनव प्रयोग किया है। जो प्रस्तुति, शैली और शिल्प में नवीन है।

*(प्रस्तुत लेख जून 1987 में प्रसिद्ध पक्षी विज्ञानी सलीम अली की मृत्यु के तुरंत बाद डायरी शैली में लिखा गया संस्मरण है। सलीम अली की मृत्यु से उत्पन्न दुख और अवसाद को 'साँवले सपनों की याद' के रूप में व्यक्त किया है। यहां भाषा की रवानी और अभिव्यक्ति की शैली दिल को छूती है।)*

~\*~

सुनहरे परिंदों के खूबसूरत पंखों पर सवार साँवले सपनों का एक हुजूम मौत की खामोशी वादी की तरफ अग्रसर है। कोई रोक-टोक सके कहां संभव है।

इस हुजूम में आगे आगे चल रहे हैं, सलीम अली। अपने कंधों पर, सैलानियों की तरह अपने अंतहीन सफर का बोझ उठाए। लेकिन यह सफर पिछले तमाम सफ़रों में भिन्न है। भीड़-भाड़ की जिंदगी और तनाव के माहौल से सलीम अली का यह आखिरी पलायन है। अब तो वह उस वन-पक्षी की तरह प्रकृति में विलीन हो रहे हैं, जो जिंदगी का आखिरी गीत गाने के बाद मौत की गोद में जा बसा हो। कोई अपने जिस्म की हरारत और दिल की धड़कन देकर भी उसे लौटाना चाहें तो वह पक्षी अपने सपनों के गीत दोबारा कैसे गा सकेगा?

मुझे नहीं लगता, कोई इस सोए हुए पक्षी को जगाना चाहेगा। वर्षों पूर्व, खुद सलीम अली ने कहा था कि लोग पक्षियों को आदमी की नजर से देखना चाहते हैं। यह उनकी भूल है, ठीक उसी तरह, जैसे जंगलों और पहाड़ों, झरनों और आबशारों को वो प्रकृति की नजर से नहीं, आदमी की नजर से देखने को उत्सुक रहते हैं। भला कोई आदमी अपने कानों से पक्षियों की आवाज का मधुर संगीत सुनकर अपने भीतर रोमांच का सोता फूट ता महसूस कर सकता है?

एहसास की ऐसी ही एक उबड़-खाबड़ जमीन पर जन्मे मिथक का नाम है, सलीम अली।

पता नहीं इतिहास में कब कृष्ण ने वृंदावन में सलीम। रासलीला रची थी और शोख गोपियों को पनी शरारतों का निशाना बनाया था। कब माखन भरे भांडे फोड़ो थे और दूध-छाली से अपने मुँह भरे थे। कब वाटिका में, छोटे छोटे किंतु घने पेड़ों के छाँह में विश्राम किया था। कब दिल की धड़कनों को एकदम से तेज़ करने वाले अंदाज़ में बंसी बजाई थी। और,

पता नहीं, कब वृंदावन की पूरी दुनिया संगीतमय हो गई थी? पता नहीं ऐसा कब हुआ था? लेकिन कोई आज भी वृंदावन जाएं तो नदी का साँवला पानी उसे पूरे घटना-क्रम की याद दिला देगा। हर सुबह सूरज निकलने से पहले जब पतली गलियों से उत्साह भरी भीड़ नदी की ओर बढ़ती है, तो लगता है जैसे उस भीड़ को चीरकर अचानक कोई सामने आएगा और बंसी की आवाज पर सब किसी के कदम थम जाएंगे। हर शाम सूरज ढलने से पहले, जब वाटिका का माली सैलानियों को हिदायत देगा तो लगता है जैसे बस कुछ ही क्षणों में वो कहीं से आ टपकेगा और संगीत का जादू वाटिका के भरे पूरे माहौल पर छा जाएगा। वृंदावन कभी कृष्ण की बांसुरी के जादू से खाली हुआ है क्या?

मिथकों की दुनिया में इस सवाल का जवाब तलाश करने से पहले एक नजर कमजोर काया वाले उस व्यक्ति पर डाली जाए जिसे हम सलीम अली के नाम से जानते हैं। उम्र को शती तक पहुंचने में थोड़े ही दिन तो बच रहे थे। संभव है, लंबी यात्रा की थकान ने उनके शरीर को कमजोर कर दिया हो और कैंसर जैसी जानलेवा बीमारी उनकी मौत का कारण बनी हो। लेकिन अंतिम समय तक मौत उनकी आंखों से वह रौशनी छीनने से सफल नहीं हुई, जो पक्षियों की तलाश और उनकी हिफाजत के प्रति समर्पित थी। सलीम अली की आंखों पर चढ़ी दूरबीन उनकी मौत के बाद ही तो उतरी थी।

उन जैसा 'बर्ड वाचर' शायद ही कोई हुआ हो। लेकिन एकांत क्षणों में क्षणों में सलीम अली बिना दूरबीन भी देखे गए हैं। दूर क्षितिज तक का फैली जमीन और झुके आसमान को

छूने वाली उनकी नजरों में कुछ-कुछ वैसा ही जादू था, जो प्रकृति को अपने घेरे में बांध लेता है। सलीम अली उन लोगों में थे जो प्रकृति के प्रभाव में आने की बजाय प्रकृति को अपने प्रभाव में लाने के कायल होते हैं। उनके लिए प्रकृति में हर तरफ़ एक हंसती-खेलती रहस्य भरी दुनिया पसरी थी। यह दुनिया उन्होंने बड़ी मेहनत से अपने लिए गढ़ी थी। इसके गढ़ने में उनकी जीवन साथी तहमीना ने काफी मदद पहुंचाई थी। तहमीना स्कूल के दिनों में उनके सहपाठी रही थीं।

अपने लंबे रोमांचकारी जीवन में ढेर सारे अनुभवों के मालिक सलीम अली एक दिन केरल की 'साइलेंट वैली' को रेगिस्तानी हवा के झोंकों से बचाने का अनुरोध लेकर चौधरी चरण सिंह से मिले थे। वे प्रधानमंत्री थे। चौधरी साहब गांव की मिट्टी पर पड़ने वाली पानी की पहली बूंद का असर जानने वाले नेता थे। पर्यावरण के संभावित खतरों का जो चित्र सलीम अली ने उनके सामने रखा, उसने उनकी आंखें नम कर दी थी।

आज सलीम अली नहीं है। चौधरी साहब भी नहीं है। कौन बचा है, जो अब सोंधी माटी पर उगी फसलों के बीच एक नए भारत की नींव रखने का संकल्प लेगा? कौन बचा है, जो अब हिमालय और लद्दाख की बर्फीली जमीन पर जीने वाले पक्षियों की वकालत करेगा?

सलीम अली ने अपनी आत्मकथा का नाम रखा था 'फाल आफ ए स्पैरो' मुझे याद आ गया, डी एच लॉरेंस की मौत के बाद लोगों ने उनकी पत्नी फ्रीडा लारेंस से अनुरोध किया कि वह अपने पति के बारे में कुछ लिखें। फ्रीडा चाहती तो ढेर सारी बातें लारेंस के बारे में लिख सकती थी। लेकिन उसने कहा मेरे

लिए लारेंस के बारे में कुछ लिखना असंभव सा है। मुझे महसूस होता है मेरी छत पर बैठने वाली गोरिया लारेंस के बारे में ढेर सारी बातें जानती है। मुझसे भी ज्यादा जानती है। वह सचमुच इतना खुला-खुला और सदा दिल आदमी था। मुमकिन है, लारेंस मेरी रगों में, मेरी हड्डियों में समाया हो। लेकिन मेरे लिए कितना कठिन है, उसके बारे में अपने अनुभवों को शब्दों का जामा पहनाना। मुझे यकीन है, मेरी छत पर बैठी गौरैया उसके बारे में और हम दोनों ही के बारे में, मुझसे ज्यादा जानकारी रखती है।

जटिल प्राणियों के लिए सलीम अली हमेशा एक पहेली बने रहेंगे। बचपन के दिनों में, उनकी एयरगन से घायल होकर गिरने वाली, नीले कंठ कीवह गौरया सारी जिंदगी उन्हें खोज के नए-नए रास्तों की तरफ़ ले जाती रही। जिंदगी की ऊँचाइयों में उनका विश्वास एक क्षण के लिए भी ढ़िगा नहीं। वो लारेंस की तरह, नैसर्गिक जिंदगी का प्रतिरूप बन गए थे।

सलीम ली प्रकृति की दुनिया में एक टापू बनने की बजए अथाह सागर बन कर उभरे थे। जो लोग उनके भ्रमणशील स्वभाव और उनकी यायावरी से परिचित हैं, उन्हें महसूस होता है कि ओ आज भी पक्षियों के सुराग में ही निकले हैं और बस अभी गले में लंबी दूरबीन लटकाए अपने खोजपूर्ण नतीजों के साथ लौच आएंगे।

जब तक वो नहीं नहीं लौटते, क्या उन्हें गया हुआ मान लिया जाए!

मेरी आँखें नम हैं, सलीम अली, तुम लौटोगे ना!

~Ω~

## 5. बांकेलाल की कुर्सी

~ सरोजिनी प्रीतम

लेखिका परिचय:-

सरोजिनी प्रीतम जन्म 6 सितंबर 1939 को हुआ। शिक्षा- हिन्दी साहित्य में एम-ए. 'स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी कहानी में नगर जीवन' विषय पर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। सरोजिनी प्रीतम हिन्दी साहित्य की आधुनिक महिला साहित्यकार और लेखक हैं। व्यंग्य से हिन्दी साहित्य जगत को समृद्ध करने वाली सरोजिनी जी 'हंसिकाएँ' नाम की एक नई विधा की जन्मदात्री हैं। उन्हें नारी वेदना की सजीव अभिव्यक्ति के लिए विशेष तौर पर जाना जाता है। हिन्दी साहित्य की अध्येता रहीं सरोजिनी प्रीतम ने पहली रचना महज मात्र 11 साल की उम्र में प्रकृति को कथ्य मानकर लिखी थी। उनके लेखन में गद्य एवं पद्य दोनों में समान अधिकार से व्यंग्य एवं वेदना व्यक्त हुई है। सरोजिनी जी ने अपनी 'हंसिकाओं' से दुनिया भर के श्रोताओं को प्रभावित किया है। उनकी हंसिकाओं का अनुवाद नेपाली, गुजराती, सिंधी और पंजाबी सहित कई भारतीय भाषाओं में हो चुका है।

सरोजिनी प्रीतम की प्रमुख कृतियों में- 'आखिरी स्वयंवर' 'बिके हुए लोग' 'लाइन पर लाइन' 'छक्केलाल' 'डंक का डंक' 'लेखक के सींग' हैं। प्रीतम जी को 'वूमेन ऑफ़ द ईयर', 'दिनकर सम्मान', 'कामिल बुल्के अवार्ड', 'राजा राममोहन राय अवार्ड' समेत कई पुरस्कारों से भी सम्मानित किया जा चुका है।

(बाँकेलाल एक दफ्तर में उच्च अधिकारी के स्तर पर लगभग तीस साल तक काम करके सेवानिवृत्त हो गया है। उच्च पदस्थ व्यक्ति के चारों तरफ सदा कोई न कोई काम के साथ कई व्यक्ति लगे रहते हैं। अब वह एकला बन गया है। उसी का वर्णन प्रस्तुत व्यंग्य में लेखिका ने बोधगम्य रूप में प्रसिद्ध किया है।)

~\*~

बाँकेलाल की जब से नौकरी छूटी थी उसे जैसे कुर्सी के प्रति एक अजीब सा प्यार उभड़ आया था.... जिसे प्यार करो वह दुलत्ती मार कर फेंक दे तो भी सच्चा प्रेमी अपनी धूल झाड़कर उसी मोह में पुनः खिंचा चला जाता है। घर में पत्नी ही थी जो उनके इस मानसिक आघात को समझ सकती थी। अतः घर की एक पुरानी प्लास्टिक की कुर्सी उनकी चारपाई के पास रखकर हंस हंस कर समझाती, तुम तो अभी भी बॉस ही हो, बैठो कुर्सी पर और मैं सारे हुक्म बजा लाऊंगी - लो पहले पानी, फिर चाय.... फिर हम दोनों गपशप करेंगे। तब तक लंच टाइम हो जायेगा

बाँके ने कुर्सी को फटी फटी नज़रों से देखा और समझौता कर लिया। पर कुर्सी का भूत जिन्न बन गया जब भी पत्नी बच्चे यहां-वहां होते वे कमरा बन्द करके कुर्सी पर बैठ जाते- अरे, कोई है का तूफान उठा देते और फिर अपने आपको समझा-बुझाकर पुरानी किताबों, अखबारों में खो जाते। मन बीमार सा हो चुका था। जीवन व्यर्थ दिखाई देने लगा। कल के बच्चे भी दफ्तर जाने लायक हो चुके थे। खाने खिलाने के दिनों को भूलकर अफसरी करने लगे। अपनी ही

आंखों के आगे बेटे भी फरफटिदार गाड़ियों में अपनी पत्नियों को लादे हुए उनसे भी नौकरी करवा रहे थे। बांके को लगता उन्होंने बच्चों में अपनी मुस्कानों के दान पर थान बांट डाले अपने लिए कुछ न छोड़ा।

पत्नी 'नैना' उनकी हर अनकही बात को भांप जाती थी अतः उसके सामने ज्यादा न सोचते। पेन्शन के नाम पर आने वाली राशि तो बकायदा तनख्वाह ही थी पर उसके लिए किसी कुर्सी पर बैठकर हुक्म न चलाना पड़ता.... बस यही दर्द यही गम धीरे-धीरे उनके मस्तिष्क पर यों हावी हो गया कि पागलपन तक जा पहुँचा।

उन्हें हल्का-हल्का बुखार रहने लगा। बार-बार वह दिन याद आता जब कसाई की तरह उन्हें हलाल करके उन्हीं के कबाब बना बनाकर चटखरों की चटनी के साथ खा गये थे। विदाई ऐसी थी कि जैसे वह संसार से कूच कर रहे हों अन्तिम दर्शन के लिए लोग खड़े थे - उन पर काफी फूल चढ़ाये गये थे। वे चाहते थे प्रथा यह बन जाय कि बॉस जिस कुर्सी पर बैठा रहा उसे वे घर ले जा सके - चलन यही हो, प्रथा यही होनी चाहिए पर इस समय उनकी कोई सुनने वाला न रहा था - बिस्तर परलेटे लेटे उठ बैठते नैना उनकी दिव्य दृष्टि सी थी वह घर के काम काज से फुरसत पाकर आ बैठती उनकी सभी अनर्गल बातें दफ्तर के किस्से.... कांड सुनती समझ न पाती तो भी बड़ी समझदारी से सिर हिला देती। सलाह भी देती और फिर चाय पानी लाने के बहाने यहां वहां हो जाती... पर अब पति की हालत चिन्ता जनक होने लगी। बुखार ऐसा कि उठ उठकर बैठजाते और कुर्सी से लिपटते फिर उस पर उलटे होकर बैठ

जाते उसे बांहों में जकड़ लेते और सिर टिका कर अपना दुखड़ा रोते। एक ही मुद्रा में घंटों बैठे बड़बड़ाते, दफ्तर के कर्मचारियों के नाम याद करके ज़ोर से चिल्लाते - 'तुम्हारी तनख्वाह काट लूंगा.....' फिर बिफराये नेत्रों से यहां वहां देख चुप हो जाते।

मैं हमेशा ऊंचे पद पर रहा हूँ बॉस... खबरदार-अरे चपरासी कहाँ है-अरे, कौन मिलने वालों की भीड़ सब सिफारिश के लिए खड़े हैं। एक एक को देख लूंगा - साले। किसी को नौकरी चाहिए, किसी को छोकरी, छोकरी को नौकरी। अरे कोई है, आने दो एक एक कर के भेजना। और पहले सबके कागज़, फाइलें चेक करना।

सब कामचोर हैं, सब को छुट्टी चाहिए। बेईमान, कामचोर, घूसखोर... अरे अब तो ज़माना आयेगा कि फिर से जोतिप्रभा शुरू हो जायेगी - घूसखोर जाति, बेईमान जाति, कामचोर जाति...।

नैना अन्दर आई तो बांके एकदम चुप हो गये.... नीचे देखने लगे। वह उनकी कुर्सी पर चाय का कप और दो बिस्कुट रखकर बिना कुछ कहे चली गई। अब तो वे तैश में आ गये। पत्नी को हांक लगाई - पर पत्नी जा चुकी थी। अपना सिर पकड़ लिया - 'मेरी कोई सुनता क्यों नहीं....' फिर खड़े होकर कुर्सी का मुआयना किया - क्या इसके चारों पायों में कोई माइक लगे हुए हैं कि इस पर बैठते ही आवाज़ अपने आप सुनाई देने लगे, आवाज़ सुनने को लोग चौकत्रे रहे... सारे दफ्तर में बॉस के मूड़ की चर्चा हो... उसकी मुस्कान का अर्थ, उसकी भृकुटि टेढ़ी होते ही दफ्तर में भूचाल आ जाए - लेट आने वालों की छुट्टी

काटने में जो मज़ा है जो सुख है वह तो.... इसी कुर्सी की देन है। हाय ! कुर्सी क्या गई नीचे की ज़मीन भी खिसक गई... हाय ! हाय ! करते हुए सिर पर हाथ मारा। फिर चाय पी ली... फिर बिस्तर पर औंधें मुंह लेते तो नींद आ गई - बहुत देर हुक्म चलाते रहे थे... थक गये... खरटि लेने लगे।

पत्नी अपनी खाट पर बैठे हुए लेटे हुए सब देखती - पर अनदेखा करती रही। आधी आधी रात को उठकर कुर्सी पर बन्दर की नाई उछलकर बैठना, सामान्य लगने लगा। कुर्सी पर ही सिर टिकाकर वे सोने भी लगे थे। और डाक्टर से पूछा तो वे बोले - 'कुर्सी पर सिर टिका कर सोना कोई रोग नहीं, मात्र आदत है।

बांकलाल जी तीस साल सरकारी विभाग में उच्चपद पर रहे जो सुख चैन तनख्वाह के साथ के आदी रहे हों। उनके लिए यह कुर्सी दुख असहनीय हो जाता है। अतः आप उन्हें इन हरकतों को करते समय स्वयं संयम बरतें।' नैना देवी ने अब उनके लिए उन्हीं की पेन्शन के रूपों से एक गोल घूमने वाली कुर्सी मेज़ मंगा कर दफ्तर के जैसे ही पेन, पुरानी डायरी और कागज़ ला रखे हैं। बांकलाल लेकिन पुरानी कुर्सी से ऐसे चिपके हैं कि छूट नहीं पा रहे। उनकी दशा को देख देखकर विज्ञापन कर्ताओं की भीड़ जमा हो गई। बांकलाल सबको एकटक ताकते रहे... चिपकाऊ चीजों के ब्रांड का विज्ञापन देने वाले ने उनकी कुर्सी पर उलटे... बैठी हुई मुद्रा को कैमरे में जकड़ लिया... हमारी कम्पनी की कुर्सियां ही ऐसी - पद छूटे कुर्सी न छूटे... एक और ज्ञापन... चिपको अभियान चिपको कांड कही कुर्सी का ज्ञापन, कहीं चिपकने के लिए ब्रांड का

विज्ञापन... बांकेलाल में नये प्राण फूंक गये। वे तनकर खड़े हुए और बोले - 'एक ऐसी कुर्सी बनाओ, लगे न झटके। प्राण जाई पर कुर्सी न छूटे।'

अगली सुबह सबने देखा एक निष्प्राण शरीर कुर्सी को जकड़े हुए था... उसके पास एक कागज़ पर लिख था - मुझे शवदार गृह में कुर्सी पर ही बिठा दिया जाए तथा एक ही झटके में समाप्त किया जाए ताकि यह कुर्सी बार-बार झटका न दे सके।

~Ω~

## 6. बीमार का इलाज

~ उदयशंकर भट्ट

लेखक परिचय:-

उदयशंकर भट्ट हिंदी के विद्वान सुप्रसिद्ध लेखक एवं कवि थे। उनका जन्म 1898 ई. में इटावा में अपनी ननिहाल में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा भी वेदों के अध्ययन के साथ हुई। काशी में भी उन्होंने अध्ययन किया, जहाँ स्व.पं. चन्द्र शेखर शास्त्री ने उन्हें संस्कृत के स्थान पर हिन्दी पढ़ने और लिखने की ओर प्रेरित किया। उन्होंने लिखा है कि भगत सिंह, सुखदेव, यशपाल, भगवतीचरण आदि का सीधा संपर्क रहा। आजादी के बाद भट्टजी आकाशवाणी के निर्देशक एवं परामर्शदाता रहे। नाटक और एकांकी के क्षेत्र में अग्रणी माननेवाले भट्टजी की मृत्यु सन् 1966 को दिल्ली में हुई।

### पात्र-परिचय

- चन्द्रकान्त : आगरे का एक रईस, जो अंग्रेजी सभ्यता व रहन-सहन का प्रेमी है। एकदम हट्टाकट्टा, उम्र 45
- कान्ति : चन्द्रकान्त का बड़ा बेटा। उम्र 22 साल
- विनोद : कान्ति का समवयस्क मित्र।
- शान्ति : कान्ति का छोटा भाई।
- सरस्वती : कान्ति की माँ, अपने पति से सर्वथा भिन्न, दुबली-पचली, पुराने विचारों की।
- प्रतिमा : कान्ति की बहन-एकदम मोटी, उम्र 24 साल
- डॉ. गुप्ता, डॉ. नानकचन्द्र, वैद्य हरिश्चन्द्र, बूढ़ा नौकर सुखिया, पण्डित, पुजारी इत्यादि।

~\*~

(आगरे में कान्ति के पिता मि. चन्द्रकान्त की कोठी का कमरा। कमरे की सजावट एक सम्पन्न परिवार के अनुरूप-सोफा सेट, कुर्सियाँ, तिपाई इत्यादि सभी वस्तुएँ मौजूद हैं-पर नौकर पर निर्भर रहने तथा रूढ़िवादी गृह-स्वामिनी के कारण स्वच्छता, सलीके का अभाव दरी पर बिछी हुई चादर काफी मैली है। जिस समय का यह दृश्य दिखाया जा रहा है, उस समय सवेरे के आठ बजे हैं। कान्ति का मित्र विनोद बिस्तर पर लेटा है। उसे अचानक रात में ज्वर हो गया, लगभग 104 डिग्री। कड़ी काठी होने के कारण वह लापरवाही से कभी उठकर बैठ जाता है और कभी उठकर टहलने लगता है। वह अपने भीतर से यह विचार निकाल देना चाहता है कि उसे ज्वर है। फिर ज्वर की तेजी उसे बेचैन कर देती है और वह लेट जाता है। कुछ देर बाद कान्ति 'नाइट ड्रेस' में कन्धे पर तौलिया डाले चपलियाँ फट फटाता, सीटी बजाता, बाएँ दरवाजे से कमरे में आता है।)

कान्ति: हलो विनोद, अमाँ अभी तक चारपाई से चिपटे हो— आठ बज रहे हैं। क्या भूल गए, आज गाँव जाना है? मैं तो स्वयं देर से उठा, वरना मुझे अब तक तैयार हो जाना चाहिए था। लेकिन तुमने तो कुम्भकर्ण के चाचा को भी मात कर दिया, यार (पास जाकर) क्या बात है? खैर तो है?

विनोद: रात न जाने क्यों बुखार हो गया। (हाथ फैलाकर) देखो।

कान्ति: (देह छूकर) ओह, सारी देह अंगारे की तरह दहक रही है।

विनोद: कम्बख्त बुखार कैसे बेमौके आ धमका।

कान्ति, यार इस बुखार ने तो सारा मजा किरकिरा कर दिया। इलाहाबाद से मैं तुम्हें कितने आग्रह से छुट्टियाँ बिताने के लिए यहाँ आगरे लाया था। सोचा था, कुछ दिन यहाँ घर में आनन्द-मौज करेंगे और फिर खूब गाँव की सैर करेंगे।

विनोद: मालूम होता है, मेरे भाग्य में गाँव की सैर नहीं लिखी। ये छुट्टियाँ बेकार गईं।

कान्ति: गाँव का रास्ता बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। इस दशा में तुम्हारा गाँव जाना असम्भव है। सोचता हूँ, मैं भी न जाऊँ पर जाए बिना काम भी तो नहीं चलेगा। कल चाचाजी शायद मुकदमे के लिए बाहर चले जाएँगे न जाने कब लौटें कहो तो मैं अकेला ही हो आऊँ— इफ यू डोण्ट माइण्ड।

विनोद: नहीं, नहीं, तुम हो आओ। उन्होंने आग्रह करके बुलाया है, हो आओ। मैं ठीक हो जाऊँगा। कोई बात नहीं।

कान्ति: तुम्हें कोई तकलीफ न होगी। डॉक्टर आ जाएगा। मैं शाम को ही लौटने का यत्न करूँगा।

विनोद: नहीं, नहीं, मामूली बुखार है, ठीक हो जाएगा, जाओ।

कान्ति के पिता चन्द्रकान्त का प्रवेश

चन्द्रकान्त: (दूर से) किसको बुखार है, बेटा कान्ति? अरे इतनी देर हो गई, तुम अभी तक गाँव नहीं गए। धूप हो जाएगी। धूप, धूल और धुआँ इनमें तीन न सही, दो ही आदमी के प्राण निकालने को काफी हैं। उस पर घोड़े की सवारी—न कूदते बने, न सीधे बैठते बने। बुखार किसे हो गया बेटा?

कान्ति: बाबू जी, विनोद को रात बुखार हो गया। देह तवे की तरह गरम है। डॉक्टर को बुलाना है। ऐसे में इसका जाना...

चन्द्रकान्त: हैं हैं, विनोद कैसे जा सकता है? और फीवर, जंगल में आग की तरह उदंड अभी डॉक्टर को बुलाकर दिखा देना होगा। मैंने निश्चय कर लिया है, डॉक्टर भटनागर अब इस घर में कदम नहीं रख सकता। उसने प्रतिमा का केस खराब कर दिया था। बुखार उससे उतरता ही न था। वह एकदम बकरे के थन की तरह निकम्मा सिद्ध हुआ। वैसे पूछो तो उस बेचारे का कसूर भी नहीं था, दवा तो उसने एक-से-एक बढ़िया दी पर इससे क्या, बुखार तो नहीं उतरा। टाइफाइड को छोड़कर चाहे उसका बाप भी क्यों न हो, उसे कुछ-न-कुछ तो उतरना ही चाहिए। डॉक्टर गुप्ता ने आते ही उतार दिया। अब गुप्ता ही मेरा फैमिली डॉक्टर है। गुप्ता को बुलाओ। सुखिया, ओ सुखिया, जा जरा डॉक्टर गुप्ता को तो बुला ला। कहना वह कान्ति के मित्र हैं न, जो प्रयाग से आए हैं, उन्हें उन्हें बुखार हो गया है जरा चलकर देख लीजिए। बाबूजी ने कहा है। बेटा मान गया मैं तो...

कान्ति: डॉ. भटनागर में मेरा 'फेथ' कभी नहीं रहा बाबूजी, लेकिन डॉक्टर नानकचन्द भी कम नहीं हैं। विनोद को उसे दिखाना ही ठीक होगा। न जाने उसके हाथ में कैसा जादू है। मेरा तो दिन-पर-दिन 'होमियोपैथी' में विश्वास बढ़ता जा रहा है।

चन्द्रकान्त: (कमरे में टहलते हुए) मेरे बच्चे, तुम पढ़-लिखकर भी नासमझ ही रहे। बिना अनुभव के समझदार और बच्चे में अन्तर ही क्या है? अरे होमियोपैथी भी कोई इलाज है चाकलेट या मीठी गोलियाँ, न दीं होमियोपैथिक दवा दे दी याद रखो, बड़ों की बात गाँठ बाँध लो—जब इलाज करो,

ऐलोपैथिक डॉक्टर का इलाज करो। 'कड़वी भेषज बिन पिए, मिटे न तन का को पाप।' ये बाल धूप में सफेद नहीं हुए हैं, कहते क्यों नहीं विनोद बेटा?

विनाद: जी (करवट बदल लेता है)

ये वैद्य हकीम क्या जानें, हरड़-बहेड़ा और शरबत-शोरबे के पण्डित।

कान्ति: मैं चाहता हूँ, आप इस मामले में....

चन्द्रकान्त: नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं जानता हूँ विनोद का भला इसी में है।

सुखिया का प्रवेश

सुखिया: सरकार वो बाबू आए हैं।

चन्द्रकान्त: अबे कौन बाबू, नाम भी बताएगा या यों ही..

सुखिया: वही जो उस दिन रात को आए थे।

चन्द्रकान्त: लो और सुनो, गधों से पाला पड़ा गया है।

सुखिया: यह बाबू सरकार....

चन्द्रकान्त: कह दे, आता हूँ। और मैंने तुझे डॉक्टर के पास भेजा था। जल्दी जा (स्वयं भी चला जाता है)

कान्ति: तुम घबराना मत। मैं डॉक्टर नानकचन्द को बुलाकर लाऊँगा। अब्बल तो मेरा खयाल है, शाम तक बुखार उतर जाएगा। अच्छी विनोद, देर हो रही है चलूँ। अभी मुझे बाथ-रूम भी जाना है।

विनोद: हाँ, हाँ, तुम जाओ। मैंने बुखार की कभी परवाह नहीं की है, कान्ति। उतर जाएगा आपने-आप। शाम तक लौटने की कोशिश करना।

कान्ति: अवश्य, अवश्य, तुम्हारे बिना मेरा मन भी क्या लगेगा। लेकिन जाना जरूरी है। अच्छा, विश यू आल राइट। (सीटी बजाता चला जाता है।)

विनोद: नमस्कार। (करवट बदलकर लेट जाता है)

कान्ति की माँ सरस्वती का प्रवेश

सरस्वती: (कमरे में घुसते ही) विनोद, क्या बात है? उठो, चाय वाय तैयार है कुछ खाओ पियो। (पास जाकर) क्या बात है, खैर, तो है ? कुछ तबीयत खराब है क्या? (पलंग के पास जाकर विनोद को छूकर) आय-हाय देखो तो कितना बुखार है। मुँह ईगुर-सा लाल हो रिया है बिचारे का—घबराओ मत बेटा, मैं अभी वैद्य हरिचन्द को बुलाती हूँ। देखकर दवा दे जाएँगे। बड़े काबिल वैद्य हैं, विनोद। जरा कपड़ा ओढ़ लो न। (उढ़ाती है) जैसा कान्ति वैसा ही तू। मेरे लेखे तो दोनों एक हो। क्या सिर में कुछ दर्द है? (हाथ फेरकर) कब्जी होगी। अभी ठीक हो जाएगी। सुखिया, ओ सुखिया। न जाने कहाँ मर गया। इन नौकरों के मारे तो नाक में दम हो गया है। अरे शान्ति, ओ शान्ति। (शान्ति आता है) देख तो बेटा, जा हरिचन्द वैदजी को बुला ला। देखकर दवा दे जाएँगे। भैया वैद हो तो ऐसा हो....

विनोद: माताजी, बाबूजी ने डॉक्टर गुप्ता को बुलाया है। शायद कान्ति ने डॉक्टर नानकचन्द के लिए कहा है।

सरस्वती: लो और सुनो, इसके मारे भी मेरा नाक में दम है। उस मरे डॉक्टर कोन कुछ आवे है, न जावे है। न जाने क्यों डॉक्टर गुप्ता के पीछे पड़े रहे हैंगे। क्या नाम है उस मारे भटनागर का? इन दोनों ने तो छोरी को मार ही डाला था। वह

तो कहो, भला हो इन वैदजी का, बचा लिया। जा बेटा शान्ति, जा तो सही जल्दी।

शान्ति: जाऊँ, हूँ माँ। (चला जाता है)

सरस्वती: अरी प्रतिमा, ओ प्रतिमा, (दूर से ही आवाज आती है- 'हाँ माँ क्या है?) देख जरा मन्दिर में पण्डित पूजा कर रहे हैं। उनसे कहियो, जरा इधर होते जाएँ। और देख, उनसे कहियो, मार्जन का जल लेते आवें, विनोद भैया बीमार हैं। मैंने घर में ही मन्दिर बनवाया है बेटा।

विनोद: उत्सुकता से करवट बदलकर पण्डित जी का क्या होगा यहाँ माँ?

सरस्वती: बेटा, जरा मार्जन कर देंगे। अपने वो पण्डितजी रोज पूजा करने आवें हैं। मार्जन कर देंगे। सारी अल-बला दूर हो जाएगी। तुम पढ़े-लिखे लोग मानो या न मानो, पर मैं तो मानूँ हूँगी भैया पिछले दिनों प्रतिमा बीमार थी। समझ लो पण्डितजी के मार्जन से ही अच्छी हुई। मैंने कथा में एक बार सुना था—बुखार-उखार तो नाम के हैं, असली तो ये ग्रह, भूत ही हैं, जो बुखार बन कर आ जाएँ होंगे। सिर दबा दूँ क्या बेटा? जैसे कान्ति वैसे तुम। तब तक न हो थोड़ासा दूध पी लो। अरी मिसरानी (दूर से आवाज 'आई बहू जी) अरी, देख, थोड़ा दूध तो गरम कर लाइयो।

विनोद: दूध तो मैं नहीं पियूँगी माताजी।

सरस्वती: (चिल्लाकर) अच्छा रहने दे। (विनोद से) क्या हर्ज है, थोड़ी देर बाद सही। जरा ओढ़ लो, मैं अभी आई।

(जैसे ही जाने लगती है वैसे ही मार्जन का जल, दूर्वा लेकर पण्डितजी कमरे में आते हैं। सरस्वती पण्डित जी से

देखो पण्डितजी, तुम्हारी पूजा से प्रतिमा जी उठी थी। याद है न? ये मेरे कान्ति का मित्र है। देखो एक साथ पढ़े हैं। तुम्हें नहीं मालूम आजकल वो आया है न चाचा ने बुलाया है, आज गाँव जा रिया है। विनोद भी जा रिया था, पर इस बिचारे को बुखार हो गया। जरा मन्त्र पढ़कर मार्जन तो कर दो।)

पण्डितजी: क्यों नहीं, बहू जी, मन्त्र का बड़ा प्रभाव है। पुराने समयों में दवा-दारू कौन करे था। बस, मन्त्राभिसिक्त जल से मार्जन करा कि बीमारी गई। तुम तो बीमारी की कहो हो, यहाँ तो मरे जी उठे थे मरे, जिनके जीने का कोई सवाल ही नहीं उठे था। (आँखें मटका कर) हाँ, ऐसा था मन्त्र का प्रभाव।

सरस्वती: सच कहो हो पण्डितजी, जरा

कर तो दो मार्जन। वैसे मैंने अपने उस वैदजी को भी बुलाया है। शान्ति गया है बुलाने।

पण्डितजी: तभी, तभी, मैं भी कहूँ आज शान्ति बाबू नहीं दिखाई दिए। ठीक है, पर शत्रु पर जब दो पिल पड़ें तो वह बचकर कैसे जाएगा ? अच्छा, यो कान्ति बाबू के दोस्त हैं अच्छा है भैया, खुश रहो, खूब पढ़ो-लिखो, धर्म में श्रद्धा रखो—हम तो ये कहे हैं। क्यों बहू जी ?

सरस्वती: हाँ और क्या, पर आजकल के ये पढ़े लिखे कुछ मानें तब न? तुम्हारे उन्हीं को देख लो, कुछ दिनों से डॉक्टरों के चक्कर में पड़े हैं। मैं कहूँ हूँ, अपने बुजुर्गों की दवाइयाँ क्यों छोड़ी जाएँ? जब ये डॉक्टर नहीं थे तब क्या कोई अच्छा नहीं होवे था? सभी ठीक होयँ थे। अब जाने कैसा जमाना आ रिया है।

पण्डितजी: जमाना बड़ा खराब है, देवता, ब्राह्मण और गौ पर तो जैसे श्रद्धा ही न रही।

सरस्वती: अच्छा पण्डितजी, मार्जन कर दो, मैं अभी आई। (चली जाती है। पण्डित मन्त्र पढ़कर विनोद के ऊपर बार-बार जल छिड़कता है। (इसी समय डॉक्टर को लेकर चन्द्रकान्त प्रवेश करता है।)

चन्द्रकान्त: हैं हैं, अरे क्या हो रहा है? (पास जाकर) बस करो ब्राह्मण देवता, बस करो, 'जोर से) अरे तुम क्या समझते हो इसे भूत है। रहने दो। न जाने इन औरतों को कब बुद्धि आएगी। अरे, डॉक्टर गुप्ता आप इधर बैठिए न

पण्डितजी: बस, थोड़ा ही मार्जन रह गया है, बाबूजी। (मार्जन करता है)

डॉक्टर गुप्ता: महाराज, क्यों मारना चाहते हो बीमार को। निमोनिया हे जाएगा, निमोनिया। (डॉक्टर के कहने पर भी पण्डित मार्जन किये ही जाता है। अटर न्यूसेन्स, मिस्टर चन्द्रकान्त।

चन्द्रकान्त: (कड़क कर) बस रहने दो। सुनते नहीं डॉक्टर गुप्ता क्या कह रहे हैं? निमोनिया हे जाएगा।

पण्डितजी: जैसी आपकी इच्छा। मेरा तो विचार है, विनोद बाबू का इतने से ही बुखार उतर गया होगा (चला जाता है)

डॉक्टर गुप्ता: मन्त्रों से बीमारी अच्छी हो जाती तो हम क्या भाड़ झोंकने को इतना पढ़ते न जाने देश का यह अज्ञान कब दूर होगा (खाट के पास खड़ा होकर विनोद को देखता है) बुखार तेज है। जीभ दिखाइए। पेट दिखाइए। (थर्मामीटर लगाकर नाड़ी की गति गिनता है, फिर थर्मामीटर देखकर)

104 डिग्री। कोई बात नहीं, ठीक हो जाएगा। दवा लिखे देता हूँ, डिस्पेन्सरी से मँगा लीजिएगा। दो-दो घण्टे बाद। पीने को केवल दूध। यू विल भी आल राइट विद इन टू आर थ्री डेज़।

चन्द्रकान्त: डॉक्टर गुप्ता, ये कान्ति के दोस्त हैं, बिचारे उसके साथ को आए थे।

डॉक्टर गुप्ता: ठीक हो जाएँगे। बेचैनी मालूम हो, बुखार न उतरे तो बरफ़ रखिएगा सिर पर।

चन्द्रकान्त: ठीक है। (विनोद से) घबराने की कोई बात नहीं। ठीक हो जाओगे, मामूली बुखार है। मैं अभी दवा लाता हूँ।

डॉक्टर गुप्ता: मैं शाम को भी आकर देख लूँगा। मिस्टर चन्द्रकान्त। (एक तरफ़ से दोनों चले जाते हैं। दूसरी तरफ़ से सरस्वती आती है)

सरस्वती: क्या हुआ? पण्डित जी चले गए? मार्जन कर गए?

विनोद: (चुपचाप खड़ा रहता है)

सरस्वती: (देह छूकर) अब तो बुखार कम है। देखा मन्त्र का प्रभाव, मार्जन करते ही फरक पड़ गया। (वहीं से झल्लाकर) प्रतिमा, ओ प्रतिमा, सुनियो री जरा।

प्रतिमा: (वहीं से चिल्लाती हुई) क्या है ?

सरस्वती: देख तो पण्डित जी गए क्या ? बुखार तो बहुत कुछ उतरा दिखाई दे रहा है। उनसे कह जरा और थोड़ी देर मर्जन कर दें। (प्रतिमा जाती है)

विनोद: नहीं रहने दीजिए। वे मार्जन कर गए हैं।

सरस्वती: क्या हर्ज है, अपने घर के ही पण्डित हैं। आधी रात को बुलाओ तो आधी रात को आवें। मखौल है क्या, बीस रुपए महीना से भी आमदनी हो जाए हैगी।

(प्रतिमा का प्रवेश)

प्रतिमा: पण्डितजी तो गए अम्मा।

विनोद: माताजी, मार्जन रहने दीजिए। काफी हो गया।  
(चुप हो जाता है।)

(वैद हरिचन्द शान्ति के साथ आते हैं)

सरस्वती: लो, वैद जी आ गए। आओ वैद जी।

हरिचन्द: क्या बात है बहू जी ? सवेरे-ही-सवेरे शान्ति जो पहुँचा तो मैं डर गया। कायदे से किसी आदमी को देखकर वैद्य को खुश होना चाहिए। परन्तु मेरी आदत तो और ही है, मैं तो चाहता हूँ अपनी जान-पहचान ले लोग सदा प्रसन्न रहें। हाँ, क्या बात है ? (संकेत से पूछता है)

सरस्वती: ये कान्ति के साथ पढ़े हैं वैद जी। छुट्टियों में उसी के संग सैर को आया, सो बिचारा बीमार पड़ गया जरा देखो तो—

(जैसे ही वैद्य नाड़ी देखने को बढ़ता है वैसे ही विनोद बोल उठता है।)

विनोद: डॉक्टर गुप्ता भी देख गए हैं, माता जी।

हरिचन्द: फिर मेरी क्या आवश्यकता है, मेरा काम ही क्या है? (एकदम दूर जा खड़ा होता है।) मैं ऐसे रोगियों का इलाज नहीं करता। उसी डॉक्टर का इलाज करो। और मैं तो राजा भूपेन्द्रसिंह के यहाँ जा रहा था। सोचा, बाबू जी ने बुलाया है तो जाना ही चाहिए।

सरस्वती: वैद जी, उनकी भली चलाई। आने दो डॉक्टर गुप्ता को। इलाज तो तुम जानो, तुम्हारा ही होगा। मैं क्या कान्ति के मित्र को बीमार होने दूँगी? नहीं, तुम्हें ही इलाज

करना होगा। तुम्हारी ही दवा दी जाएगी। चलो देखो। उन मरों ने प्रतिमा को तो मार ही दिया था। तुम्हीं ने तो बताया। वाह, यह कैसे हो हो सके हैगा ? इस घर में डॉक्टरी नहीं चलेगी।

हरिचन्द: (पास जाकर विनोद को देखते हुए) हाँ, सोच लो। मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो दवा देने के लिए भागते फिरें। मैं अच्छी तरह जानता हूँ, बाबू चन्द्रकान्त डॉक्टरों के चक्कर में पड़ गए हैं, जो अँग्रेजी दवाइयाँ देकर लोगों को मार देते हैं। (व्यंग्य से हँसकर) ये डॉक्टर भी अजीब हैं। देशी बीमारी और अँग्रेजी दवाई न देश, न काल (विनोद को देखकर) पेट खराब है। काढ़ा देना होगा। एक गोली ढूँगा, काढ़े के साथ दे देना। बुखार पचेगा और ठीक हो जाएगा।

सरस्वती: (उछल कर) मैं कह नहीं रही थी कब्जी से बुखार है। कहो, विनोद क्या कहा था? घोड़ी नहीं चढ़े तो क्या बारात भी नहीं देखी बहुत-सी बीमारी का इलाज तो मैं खुद ही कर लूँ हूँगी।

हरिचन्द: बीमारी पहचानने में कर तो ले कोई मेरा मुकाबला। बड़े-बड़े सिविल सर्जन मुझे बुलाते हैं। अभी उस दिन राजा साहब के यहाँ सारे शहर के डॉक्टर इकट्ठे हुए, किसी की समझ में नहीं आ रहा था क्या बीमारी है। मुझे बुलाया गया, देखते ही मैंने झट से कह दिया यह बीमारी है।

सरस्वती: (वैद्य की तरफ विश्वास से देखकर) फिर मान गए?

हरिचन्द: मानते न तो क्या करते वह सिक्का बैठा कि शहर भर में धूम मच गई। अब रोज जाता हूँ।

सरस्वती: आराम आ गया फिर? भला क्यों न आराम आता। हमारे वैद्य जी क्या कोई कम हैं।

हरिचन्द: अभी देर लगेगी। पुराना रोग है। ठीक हो जाएगा।  
सरस्वती: अरे, तो आरम नहीं आया? भला कौन बीमार है?

हरिचन्द: उनकी बड़ी लड़की।

सरस्वती: (साश्चर्य) वह गप्पो, क्या वैद जी? बड़ी अच्छी लड़की है बिचारी। राम करे अच्छी हो जाए।

हरिचन्द: हाँ। अच्छा, चला। काढ़ा और गोली भेज दूँगा। पहले बुखार पचेगा, फिर उतरेगा। उस दिन राजा साहब बोले—वैद्य जी, हमने आपको अपने परिवार का चिकित्सक बना लिया है।

सरस्वती: सो तो है ही। तुम्हें क्या कमी है मैं उनसे यही तो कहूँ कि हमें तो वैद जी की दवा लगे है। पर न जाने।

हरिचन्द: सस्ती दवा, थोड़ी फीस, देशकाल के अनुसार। और मैं डॉक्टरी नहीं जानता? मैंने भी तो मेटिरिया मेडिका, सर्जरी पढ़ी है।

सरस्वती: सो तो है ही वैद जी। (सरस्वती वैद के साथ एक द्वार से बाहर निकल जाती है। दूसरे से चन्द्रकान्त सुखिया के साथ दवा लेकर आते हैं।)

चन्द्रकान्त: लो बेटा विनोद, एक खुराक पी लो। अभी ठीक हो जाओगे। (विनोद को उठाकर दवा पिलाता है।)

विनोद: अभी वैद्य हरिचन्द भी देखने आए थे।

चन्द्रकान्त: (चौंककर) आए थे? वह मूर्ख वैद्य वह क्या जाने इलाज करना। इन औरतों के मारे नाक में दम है साहब। दवा तो नहीं पी न? अच्छा दो-दो घण्टे बाद दवा लेते रहना। पीने को दूध, बस और कुछ नहीं। मैं काम से जा रहा हूँ।

(जाते-जाते सुखिया से) देख, तू यहाँ बैठ। बाबू की देख-भाल करना, भला।

सुखिया: जी सरकार। (चन्द्रकान्त चला जाता है)

बाबू मैं तो झाड़- फूँक में विश्वास करता हूँ। हाथ फेरते ही बुखार उतर जाएगा। यह ओझा से पानी लाया हूँ। दो घण्टे में बुखार क्या उसका नाम भी न रहेगा। मैंने तो छोटे बाबू से सवेरे ही कहा था— कहो तो ओझा को बुलाऊँ पर वे न माने। कहा, तू पागल है सुखिया। मैं चुप हो रहा। क्या करता, गरीब आदमी ठहरा। अभी दो घण्टे में बुखार का नाम भी न रहेगा बाबू।

~Ω~

## 7. ठेले पर हिमालय

~ डॉ.धर्मवीर भारती

लेखक परिचय:-

डॉ.धर्मवीर भारती का जन्म 25 दिसंबर 1926 को इलाहाबाद के एक कायस्थ परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री चिरंजीव लाल वर्मा और माँ का श्रीमती चंदादेवी था। उच्च शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। प्रथम श्रेणी में एम.ए करने के बाद डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में सिद्ध साहित्य पर शोध-प्रबंध लिखकर उन्होंने पी.एच.डी. प्राप्त की। उन्हें जीवन में दो ही शौक थे: अध्ययन और यात्रा। भारती के साहित्य में उनके विशद अध्ययन और यात्रा-अनुभवों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

उनकी दृष्टि में वर्तमान को सुधारने और भविष्य को सुखमय बनाने के लिए आम जनता के दुःख दर्द को समझने और उसे दूर करने की आवश्यकता है। उन्हें इस बात का दुःख है कि आज 'जनतंत्र' में 'तंत्र'शक्तिशाली लोगों के हाथों में चला गया है और 'जन'की ओर किसी का ध्यान ही नहीं है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से इसी 'जन'की आशाओं, आकांक्षाओं, विवशताओं, कष्टों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है।

डॉ.धर्मवीर भारती को १९७२ में पद्मश्री पुरस्कार, १९८४ में हल्दी घाटी श्रेष्ठ पत्रकारिता पुरस्कार, १९८८ में महाराणा मेवाड़ फाउंडेशन पुरस्कार, १९८९में सर्वश्रेष्ठ नाटककार पुरस्कार संगीत नाटक अकादमी दिल्ली, १९९० में भारत भारती पुरस्कार उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, १९९४ में महाराष्ट्र

गौरव, महाराष्ट्र सरकार, में व्यास सम्मान के के बिड़ला फाउंडेशन अपने जीवन काल में अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। १९९७ में डॉ. भारती ने अवकाश ग्रहण किया। १९९९ में युवा कहानीकार उदय प्रकाश के निर्देशन में साहित्य अकादमी दिल्ली के लिए डॉ. भारती पर एक वृत्त चित्र का निर्माण भी हुआ है।

*(डॉ० धर्मवीर भारती द्वारा लिखित यात्रावृत्तांत श्रेणी का संस्मरणात्मक निबंध है। इसमें लेखक ने नैनीताल से कौसानी तक की यात्रा का रोचक वर्णन किया है। इस निबंध के माध्यम से लेखक ने जीवन के उच्च शिखरों तक पहुँचने का जो संदेश दिया है, वह भी अभिनंदनीय है।)*

~\*~

ठेले पर हिमालय - खास दिलचस्प शीर्षक है न। और यकीन कीजिए, इसे बिलकुल ढूँढ़ना नहीं पड़ा। बैठे-बिठाए मिल गया। अभी कल की बात है, एक पान की दूकान पर मैं अपने एक गुरुजन उपन्यासकार मित्र के साथ खड़ा था कि ठेले पर बर्फ की सिलें लादे हुए बर्फवाला आया। ठंडे, चिकने चमकते बर्फ से भाप उड़ रही थी। मेरे मित्र का जन्म स्थान अल्मोड़ा है, वे क्षण-भर उस बर्फ को देखते रहे, उठती हुई भाप में खोए रहे और खोए-खोए से ही बोले, यही बर्फ तो हिमालय की शोभा है। और तत्काल शीर्षक मेरे मन में कौंध गया, ठेले पर हिमालय। पर आपको इसलिए बता रहा हूँ कि अगर आप नए कवि हों तो भाई, इसे ले जाएँ और इस शीर्षक पर दो तीन सौ पंक्तियाँ, बेडौल, बेतुकी लिख डालें शीर्षक मौजू है, और अगर नई कविता से नाराज हों, सुललित गीतकार हों तो भी

गुँजाइश है, इस बर्फ को डाटे, उतर आओ। ऊँचे शिखर पर बन्दरों की तरह क्यों चढ़े बैठे हो? ओ नए कवियो। ठेले पर लदो। पान की दूकानों पर बिको।

ये तमाम बातें उसी समय मेरे मन में आयीं और मैंने अपने गुरुजन मित्र को बताया भी। वे हँसे भी, पर मुझे लगा कि वह मुझे लगा कि वह बर्फ कहीं उनके मन को खरोंच गई है और ईमान की बात यह है कि जिसने 50 मील दूर से भी बादलों के बीच नीले आकाश में हिमालय की शिखर रेखा को चांद तारों से बात करते देखा है, चाँदनी में उजली बर्फ को धुँधली हलके नीले जाल में दूधिया समुद्र की तरह मचलते और जगमगाते देखा है, उसके मन पर हिमालय की बर्फ एक ऐसी खरोंच छोड़ जाती है जो हर बार याद आने पर पिरा उठती है। मैं जानता हूँ, क्योंकि वह बर्फ मैंने भी देखी है।

सच तो यह है कि सिर्फ बर्फ को बहुत निकट से देख पाने के लिए ही हम लोग कौसानी गए थे। नैनीताल से रानीखेत और रानीखेत से मझकाली के भयानक मोड़ों को पार करते हुए कोसी। कोसी से एक सड़क अल्मोड़े चली जाती है, दूसरी कौसानी। कितना कष्टप्रद, कितना सूखा और कितना कुरूप है वह रास्ता। पानी का कहीं नाम निशान नहीं, सूखे भूरे पहाड़, हरियाली का नाम नहीं। ढालों को काटकर बनाये हुए टेढ़े मेढ़े रास्ते पर अल्मोड़े का एक नौसिखिया और लापरवाह ड्राइबर जिसने बस के तमाम मुसाफिरों की ऐसी हालत कर दी कि जब हम कोसी पहुँचे तो सभी के चेहरे पीले पड़ चुके थे।

यकौसानी जाने वाले सिर्फ हम दो थे, वहाँ उत्तर गए। बस अल्मोड़े चली गई। सामने के एक टीन के शेड में काठ की

बेंच पर बैठकर हम वक्त काटते रहे। तबीयत सुस्त थी और मौसम में उमस थी। दो घण्टे बाद दूसरी लारी आकर रुकी और जब उसमें से प्रसन्न बदन शुक्ल जी को उतरते देखा तो हम लोगों की जान में जान आई। शुक्ल जी जैसा सफल का साथी पिछले जन्म के पुण्यों से ही मिलता है। उन्होंने हमें कौसानी आने का उत्साह दिलाया था। और खुद तो कभी उनके चेहरे पर थकान या सुस्ती दीखी ही नहीं, पर उन्हें देखते ही हमारी भी सारी थकान काफूर हो जाया करती थी।

पर शुक्ल जी के साथ यह नई मूर्ति कौन है? लंबा दुबला शरीर, पतला साँवला चेहरा, एमिल जोला सी दाढ़ी, ढीला ढाला पतलून, कंधे पर पड़ी हुई ऊनी जर्किन, बगल में लटकता हुआ जाने थर्मस या कैमरा या बाइनाकुलर। और खासी अटपटी चाल थी। बाबूसाहब की। यह पतला दुबला मुझ जैसा ही सीकिया शरीर और उस पर आपका झूमते हुए आना। मेरे चेहरे पर निरंतर घनी होती हुई उत्सुकता को ताड़कर शुक्ल जी ने कहा - हमारे शहर के मशहूर चित्रकार हैं सेन, अकादमी से इनकी कृतियों पर पुरस्कार मिला है। उसी रूप से घूमकर छुट्टियाँ बिता रहे हैं। थोड़ी ही देर में हम लोगों के साथ सेन घुल मिल गया, कितना मीठा था हृदय से वह। वैसे उसके करतब आगे चलकर देखने में आए।

कोसी से बस चली तो रास्ते का सारा दृश्य बदल गया। सुडौल पत्थरों पर कल-कल करती हुई कोसी, किनारे के छोटे-छोटे सुंदर गाँव और हरे मखमली खेत। कितनी सुंदर है सोमेश्वर की घाटी। हरी भरी। एक के बाद एक बस स्टेशन पड़ते थे, छोटे-छोटे पहाड़ी डाकखाने, चाय की दूकानें और

कभी-कभी कोसी या उसमें गिरने वाले नदी नालों पर बने हुए पुल। कहीं-कहीं सड़क निर्जन चीड़ के जंगलों से गुजरती थी। टेढ़ी-मेढ़ी, ऊपर नीचे रेंगती हुई कँकरीली पीठ वाले अजगर सी सड़क पर धीरे-धीरे बस चली जा रही थी। रास्ता सुहावना था और उस थकावट के बाद उसका सुहावनापन हमें भी तंद्रालस बना रहा था। पर ज्यों-ज्यों बस आगे बढ़ रही थी, हमारे मन में एक अजीब सी निराशा छाती जा रही थी अब तो हम लोग कौसानी के नजदीक हैं, कोसी से 18 मील चले आए, कौसानी सिर्फ छह मील है, पर कहाँ गया वह अतुलित सौंदर्य, वह जादू जो कौसानी के बारे में सुना जाता था।

आते समय मेरे एक सहयोगी ने कहा था कि कश्मीर के मुकाबले में उन्हें कौसानी ने अधिक मोहा है, गाँधी जी ने यहीं अनासक्ति योग लिखा था और कहा था कि स्विट्ज़रलैंड का आभास कौसानी में ही होता है। ये नदी, घाटी, खेत, गाँव सुंदर हैं किंतु इतनी प्रशंसा के योग्य तो नहीं ही हैं। हम कभी-कभी अपना संशय शुक्ल जी से व्यक्त भी करने लगे और ज्यों-ज्यों कौसानी नजदीक आता गया त्यों-त्यों अधैर्य, फिर असंतोष और अंत में तो क्षोभ हमारे चेहरे पर, झलक आया। शुक्ल जी की क्या प्रतिक्रिया थी हमारी इन भावनाओं पर, यह स्पष्ट नहीं हो पाया क्योंकि वे बिलकुल चुप थे। सहसा बस ने एक बहुत लंबा मोड़ लिया और ढाल पर चढ़ने लगी।

सोमेश्वर की घाटी के उत्तर में जो ऊँची पर्वतमाला है, उस पर, बिलकुल शिखर पर, कौसानी बसा हुआ है। कौसानी से दूसरी ओर फिर ढाल शुरू हो जाती है। कौसानी के अड्डे पर जाकर बस रुकी। छोटा-सा, बिलकुल उजड़ा-सा गाँव और

बर्फ का तो कहीं नाम निशान नहीं। बिलकुल ठगे गए हम लोग। कितना खिन्न था मैं। अनखाते हुए बस से उतरा कि जहाँ था वहीं पत्थर की मूर्ति-सा स्तब्ध खड़ा रहा गया। कितना अपार सौंदर्य बिखरा था सामने की घाटी में। इस कौसानी की पर्वतमाला ने अपने अंचल में यह जो कल्पूर की रंग बिरंगी घाटी छिपा रही है, इसमें किन्नर और यक्ष ही तो वास करते होंगे।

पचासों मील चौड़ी यह घाटी, हरे मखमली कालीनों जैसे खेत, सुंदर गेरू की शिलाएँ काटकर बने हुए लाल-लाल रास्ते, जिनके किनारे सफेद-सफेद पत्थरों की कतार और इधर उधर से आकर आपस में उलझा जाने वाली बेले की लड़ियाँ-सी नदियाँ। मन में बेसाख्ता यही आया कि इन बेलों की लड़ियों को उठाकर कलाई में लपेट लूँ, आँखों से लगा लूँ। अकस्मात् हम एक दूसरे लोक में चले आए थे। इतना सुकुमार, इतना सुंदर, इतना सजा हुआ और इतना निष्कलंक कि लगा इस धरती पर तो जूते उतारकर, पाँव पोंछकर आगे बढ़ना चाहिए। धीरे धीरे मेरी निगाहों ने इस घाटी को पार किया और जहाँ ये हरे खेत और नदियाँ और वन, क्षितिज के धुँधलेपन में, नीले कोहरे में धुल जाते थे, वहाँ पर कुछ छोटे पर्वतों का आभास अनुभव किया, उसके बाद बादल थे और फिर कुछ नहीं। कुछ देर उन बादलों में निगाह भटकती रही कि अकस्मात् फिर एक हलका-सा विस्मय का धक्का मन को लगा। इन धीरे-धीरे खिसकते हुए बादलों में यह कौन चीज है जो अटल है।

यह छोटा-सा बादल के टुकड़े-सा-और कैसा अजब रंग है इसका, न सफेद, न रूपहला, न हलका नीला... पर तीनों का

आभास देता हुआ। यह है क्या? बर्फ तो नहीं है। हाँ जी। बर्फ नहीं है तो क्या है अकस्मात बिजली-सा यह विचार मन में कौंधा कि इसी घाटी के पार वह नगाधिराज, पर्वतसम्राट हिमालय है, इन बादलों ने उसे ढाँक रखा है, वैसे वह क्या सामने है, उसका एक कोई छोटा-सा बाल स्वभाव वाला शिखर बादलों की खिड़की से झाँक रहा है। मैं हर्षातिरेक से चीख उठा, बरफ। वह देखों। शुक्ल जी, सेन, सभी ने देखा, पर अकस्मात वह फिर लुप्त हो गया। लगा, उसे बाल-शिखर जान किसी ने अंदर खींच लिया। खिड़की से झाँक रहा है, कहीं गिर न पड़े।

पर उस एक क्षण के हिम दर्शन ने हममें जाने क्या भर दिया था। सारी खिन्नता, निराशा, थकावट सब छू मन्तर हो गई। हम सब आकुल हो उठे। अभी ये बादल छँट जाएँगे और फिर हिमालय हमारे सामने खड़ा होगा-निरावृत्त... असीम सौंदर्यराशि हमारे सामने अभी-अभी अपना घूँघट धीरे से खिसका देगी और... और तब? और तब? सचमुच मेरा दिल बुरी तरह धड़क रहा था। शुक्ल जी शांत थे, केवल मेरी ओर देखकर कभी-कभी मुस्करा देते थे, जिसका अभिप्राय था, इतने अधीर थे, कौसानी आया भी नहीं और मुँह लटका लिया। अब समझे यहाँ का जादू? डाक बँगले के खानसामे ने बताया कि, आप लोग बड़े खुशकिस्मत हैं साहब। 14 टूरिस्ट आकर हफ्ते भर पड़ रहे, बर्फ नहीं दीखी। आज तो आपके आते ही आसार खुलने के हो रहे हैं।

सामान रख दिया गया। पर, सभी बिना चाय पिये सामने के बरामदे में बैठे रहे और एकटक सामने देखते रहे। बादल

धीरे-धीरे नीचे उतर रहे थे और एक-एक कर नए-नए शिखरों की हिम-रेखाएँ अनावृत हो रही थीं। और फिर सब खुल गया। बाईं ओर से शुरू होकर दायीं ओर गहरे शून्य में धँसती जाती हुई हिमशिखरों की ऊबड़-खाबड़, रहस्यमयी, रोमांचक श्रृंखला। हमारे मन में उस समय क्या भावनाएँ उठ रही थीं यह अगर बता पाता तो यह खरोंच, यह पीर ही क्यों रह गई होती। सिर्फ एक धुँधला-सा संवेदन इसका अवश्य था कि जैसे बर्फ की सिल के सामने खड़े होने पर मुँह पर ठंडी-ठंडी भाप लगती है, वैसे ही हिमालय की शीतलता माथे को छू रही है और सारे संघर्ष, सारे अंतर्द्वंद्व, सारे ताप जैसे नष्ट हो रहे हैं।

क्यों पुराने साधकों ने दैहिक, दैविक और भौतिक; कष्टों को ताप कहा था और उसे शमित करने के लिए वे क्यों हिमालय जाते थे यह पहली बार मेरी समझ में आ रहा था। और अकस्मात एक दूसरा तथ्य मेरे मन के क्षितिज पर उदित हुआ। कितनी पुरानी है यह हिमराशि। जाने किस आदिम काल से यह शाश्वत अविनाशी हिम इन शिखरों पर जमा हुआ है। कुछ विदेशियों ने इसीलिए हिमालय की इस बर्फ को कहा है-चिरंतन हिम (एटर्नल स्नो)। सूरज ढल रहा था और सुदूर शिखरों पर दर्रें, ग्लेशियर, ढाल, घाटियों का क्षीण आभास मिलने लगा था। आतंकित मन से मैंने यह सोचा था कि पता नहीं इन पर कभी मनुष्य का चरण पड़ा भी है या नहीं या अनंत काल से इन सूने बर्फ ढँके दर्रों में सिर्फ बर्फ के अंधड़ हूँ-हूँ करते हुए बहते रहे हैं।

सूरज डूबने लगा और धीरे-धीरे ग्लेशियरों में पिघली केसर बहने लगी। बर्फ कमल के लाल फूलों में बदलने लगी,

घाटियाँ गहरी पीली हो गईं। अँधेरा होने लगा तो हम उठे और मुँह-हाथ धोने और चाय पीने में लगे। पर सब चुपचाप थे, गुमसुम, जैसे सबका कुछ छिन गया हो, या शायद सबको कुछ ऐसा मिल गया हो जिसे अंदर ही अंदर सहेजने में सब आत्मलीन हों या अपने में डूब गए हों। थोड़ी देर में चाँद निकला और हम फिर बाहर निकले... इस बार सब शांत था। जैसे हिम सो रहा हो। मैं थोड़ा अलग आरामकुर्सी खींचकर बैठ गया। यह मेरा मन इतना कल्पनाहीन क्यों हो गया है?

इसी हिमालय को देखकर कितनों ने क्या-क्या नहीं लिखा और यह मेरा मन है कि एक कविता तो दूर, एक पंक्ति, एक शब्द भी लिखना तो नहीं जानता। पर कुछ नहीं, यह सब कितना छोटा लग रहा है इस हिम सम्राट के समक्ष। पर धीरे-धीरे लगा कि मन के अंदर भी बादल थे जो छँट रहे हैं। कुछ ऐसा उभर रहा है जो इन शिखरों की ही प्रकृति का है जो इसी ऊँचाई पर उठने की चेष्टा कर रहा है ताकि इनसे इन्हीं के स्तर पर मिल सके। लगा, यह हिमालय बड़े भाई की तरह ऊपर चढ़ गया है, और मुझे-छोटे भाई को-नीचे खड़ा हुआ, कुंठित और लज्जित देखकर थोड़ा उत्साहित भी कर रहा है, स्नेह भरी चुनौती भी दे रहा है- हिम्मत है? ऊँचे उठोगे? और सहसा सन्नटा तोड़कर सेन रवींद्र की कोई पंक्ति गा उठा और जैसे तंद्रा टूट गई। और हम सक्रिय हो उठे- अदम्य शक्ति, उल्लास, आनंद जैसे हम में छलक पड़ रहा था। सबसे अधिक खुश या सेन, बच्चों की तरह चंचल, चिड़ियों की तरह चहकता हुआ बोला, भाई साहब, हम तो बंडरस्ट्रक हैं कि यह भगवान का क्या-क्या करतूत इस हिमालय में होता है।

इस पर हमारी हँसी मुश्किल से ठंडी हो पाई थी कि अकस्मात वह शीर्षासन करने लगा। पूछा गया तो बोला, हम नए पर्सपेक्टिव से हिमालय देखेगा। बाद में मालूम हुआ कि वह बंबई की अत्याधुनिक चित्रशैली से थोड़ा नाराज है और कहने लगा, ओ सब जीनियस लोग शीर का बल खड़ा होकर दुनिया को देखता है। इसी से हम भी शीर का बल हिमालय देखता है।

दूसरे दिन घाटी में उतरकर 12 मील चलकर हम बैजनाथ पहुँचे जहाँ गोमती बहती है। गोमती की उज्ज्वल जलराशि में हिमालय की बर्फीली चोटियों की छाया तैर रही थी। पता नहीं, उन शिखरों पर कब पहुँचूँ, पर उस जल में तैरते हुए हिमालय से जी भरकर भेंटा, उसमें डूबा रहा।

आज भी उसकी याद आती है तो मन पिरा उठता है। कल ठेले के बर्फ को देखकर वे मेरे मित्र उपन्यासकार जिस तरह स्मृतियों में डूब गए उस दर्द को समझता का ही बहाना है। वे बर्फ की ऊँचाइयाँ बार-बार बुलाती हैं, और हम हैं कि चौराहों पर खड़े, ठेले पर लदकर निकलने वाली बर्फ को ही देखकर मन बहला लेते हैं। किसी ऐसे ही क्षण में, ऐसे ही ठेलों पर लदे हिमालयों से घिरकर ही तो तुलसी ने नहीं कहा था कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो... मैं क्या कभी ऐसे भी रह सकूँगा वास्तविक हिमशिखरों की ऊँचाइयों पर? और तब मन में आता है कि फिर हिमालय को किसी के हाथ संदेशा भेज दूँ... नहीं बंधु... आऊँगा। मैं फिर लौट-लौट कर वहीं आऊँगा। उन्हीं ऊँचाइयों पर तो मेरा आवास है। वहीं मन रमता है, मैं करूँ तो क्या करूँ?

~Ω~

## 8. गिरगिट का सपना

~ मोहन राकेश

लेखक परिचय:-

मोहन राकेश का जन्म 8 जनवरी, 1925 को अमृतसर, पंजाब में हुआ था। उनके पिता पेशे से वकील थे और साथ ही साहित्य और संगीत के प्रेमी भी थे। पिता की साहित्यिक रुचि का प्रभाव मोहन राकेश पर भी पड़ा। उन्होंने 'पंजाब विश्वविद्यालय' से हिन्दी और अंग्रेज़ी में एम.ए. किया। एक शिक्षक के रूप में पेशेवर ज़िंदगी की शुरुआत करने के साथ ही उनका रुझान लघु कहानियों की ओर हुआ। इसके बाद में उन्होंने कई नाटक और उपन्यास लिखे। बाद में अनेक वर्षों तक दिल्ली, जालंधर, शिमला और मुम्बई में अध्यापन कार्य करते रहे।

मोहन राकेश की रचनाएँ पाठकों और लेखकों के दिलों को छूती हैं। राकेश के उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे', 'न आने वाला कल', 'अंतराल और 'बाकलमा खुदा' है। इसके अलावा 'आधे अधूरे', 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' उनके कुछ मशहूर नाटक हैं। 'लहरों के राजहंस' उनका सबसे विख्यात नाटक रहा। मोहन राकेश ने नाटक, उपन्यास, कहानी, यात्रा वृत्तान्त, निबन्ध आदि विधाओं में विपुल साहित्य की रचना की। 1968 में मोहन राकेश को 'संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था। मोहन राकेश जी की मृत्यु 3 जनवरी, 1972 को नई दिल्ली में आकस्मिक से हुई।

~\*~

एक गिरगिट था। अच्छा, मोटा-ताजा। काफी हरे जंगल में रहता था। रहने के लिए एक घने पेड़ के नीचे अच्छी-सी जगह बना रखी थी उसने। खाने-पीने की कोई तकलीफ नहीं थी। आसपास जीव-जन्तु बहुत मिल जाते थे। फिर भी वह उदास रहता था। उसका ख्याल था कि उसे कुछ और होना चाहिए था। और हर चीज, हर जीव का अपना एक रंग था। पर उसका अपना कोई एक रंग था ही नहीं। थोड़ी देर पहले नीले थे, अब हरे हो गए। हरे से बैंगनी। बैंगनी से कत्थई। कत्थई से स्याह। यह भी कोई जिन्दगी थी! यह ठीक था कि इससे बचाव बहुत होता था। हर देखनेवाले को धोखा दिया जा सकता था। खतरे के वक्त जान बचाई जा सकती थी। शिकार की सुविधा भी इसी से थी। पर यह भी क्या कि अपनी कोई एक पहचान ही नहीं! सुबह उठे, तो कच्चे भुट्टे की तरह पीले और रात को सोए तो भुने शकरकन्द की तरह काले! हर दो घण्टे में खुद अपने ही लिए अजनबी!

उसे अपने सिवा हर एक से ईर्ष्या होती थी। पास के बिल में एक साँप था। ऐसा बढ़िया लहरिया था उसकी खाल पर कि देखकर मजा आ जाता था! आसपास के सब चूहे-चमगादड़ उससे खौफ खाते थे। वह खुद भी उसे देखते ही दुम दबाकर भागता था। या मिट्टी के रंग में मिट्टी होकर पड़ रहता था। उसका ज्यादातर मन यही करता था कि वह गिरगिट न होकर साँप होता, तो कितना अच्छा था! जब मन आया, पेट के बल रेंग लिए। जब मन आया, कुण्डली मारी और फन उठाकर सीधे हो गए।

एक रात जब वह सोया, तो उसे ठीक से नींद नहीं आई। दो-चार कीड़े ज्यादा निगल लेने से बदहजमी हो गई थी। नींद लाने के लिए वह कई तरह से सीधा-उलटा हुआ, पर नींद नहीं आई। आँखों को धोखा देने के लिए उसने रंग भी कई बदल लिए, पर कोई फायदा नहीं हुआ। हलकी-सी ऊँघ आती, पर फिर वही बेचैनी। आखिर वह पास की झाड़ी में जाकर नींद लाने की एक पत्ती निगल आया। उस पत्ती की सिफारिश उसके एक और गिरगिट दोस्त ने की थी। पत्ती खाने की देर थी कि उसका सिर भारी होने लगा। लगने लगा कि उसका शरीर जमीन के अन्दर धँसता जा रहा है। थोड़ी ही देर में उसे महसूस हुआ जैसे किसी ने उसे जिन्दा जमीन में गाड़ दिया हो। वह बहुत घबराया। यह उसने क्या किया कि दूसरे गिरगिट के कहने में आकर ख्याहमख्याह वह पत्ती खा ली। अब अगर वह जिन्दगी - भर जमीन के अन्दर ही दफन रहा तो?

वह अपने को झटककर बाहर निकलने के लिए जोर लगाने लगा। पहले तो उसे कामयाबी हासिल नहीं हुई। पर फिर लगा कि ऊपर जमीन पोली हो गई है और वह बाहर निकल आया है। ज्यों ही उसका सिर बाहर निकला और बाहर की हवा अन्दर गई, उसने एक और ही अजूबा देखा। उसका सिर गिरगिट के सिर जैसा ना होकर साँप के सिर जैसा था। वह पूरा जमीन से बाहर आ गया, पर साँप की तरह बल खाकर चलता हुआ। अपने शरीर पर नजर डाली, तो वही लहरिया नजर आया जो उसे पास वाले साँप के बदन पर था। उसने कुण्डली मारने की कोशिश की, तो कुण्डली लग गई। फन

उठाना चाहा तो, फन उठ गया। वह हैरान भी हुआ और खुश भी। उसकी कामना पूरी हो गई थी। वह साँप बन गया था।

साँप बने हुए उसने आसपास के माहौल को देखा। सब चूहे-चमगादड़ उससे खौफ खाए हुए थे। यहाँ तक कि सामने के पेड़ का गिरगिट भी डर के मारे जल्दी-जल्दी रंग बदल रहा था। वह रेंगता हुआ उस इलाके से दूसरे इलाके की तरफ बढ़ गया। नीचे से जो पत्थर-काँटे चुभे, उनकी उसने परवाह नहीं की। नया-नया साँप बना था, सो इन सब चीजों को नजर-अन्दाज किया जा सकता था। पर थोड़ी दूर जाते-जाते सामने से एक नेवला उसे दबोचने के लिए लपका, तो उसने सतर्क होकर फन उठा लिया।

उस नेवले की शायद पड़ोस के साँप से पुरानी लड़ाई थी। साँप बने गिरगिट का मन हुआ कि वह जल्दी से रंग बदले ले, पर अब रंग कैसे बदल सकता था? अपनी लहरिया खाल की सारी खूबसूरती उस वक्त उसे एक शिकंजे की तरह लगी। नेवला फुदकता हुआ बहुत पास आ गया था। उसकी आँखें एक चुनौती के साथ चमक रही थीं। गिरगिट आखिर था तो गिरगिट ही। वह सामना करने की जगह एक पेड़ के पीछे जा छिपा। उसकी आँखों में नेवले का रंग और आकार बसा था। कितना अच्छा होता अगर वह साँप न बनकर नेवला बन गया होता! तभी उसका सिर फिर भारी होने लगा। नींद की पत्ती अपना रंग दिखा रही थी। थोड़ी देर में उसने पाया कि जिस्म में हवा भर जाने सह वह काफी फूल गया है। ऊपर तो गरदन निकल आई है और पीछे को झबरैली पूँछ। जब वह अपने को

झटककर आगे बढ़ा, तो लहरिया साँप एक नेवले में बदल चुका था।

उसने आसपास नजर दौड़ाना शुरू किया कि अब कोई साँप नजर आए, तो उसे वह लपक ले। पर साँप वहाँ कोई था ही नहीं। कोई साँप निकलकर आए, इसके लिए उसने ऐसे ही उछलना-कूदना शुरू किया। कभी झाड़ियों में जाता, कभी बाहर आता। कभी सिर से जमीन को खोदने की कोशिश करता। एक बार जो वह जोर-से उछला तो पेड़ की टहनी पर टँग गया। टहनी का काँटा

जिस्म में ऐसे गड़ गया कि न अब उछलने बने, न नीचे आते। आखिर जब बहुत परेशान हो गया, तो वह मनाने लगा कि क्यों उसने नेवला बनना चाहा। इससे तो अच्छा था कि पेड़ की टहनी बन गया होता। तब न रेंगने की जरूरत पड़ती, न उछलने-कूदने की। बस अपनी जगह उगे हैं और आराम से हवा में हिल रहे हैं।

नींद का एक और झोंका आया और उसने पाया कि सचमुच अब वह नेवला नहीं रहा, पेड़ की टहनी बन गया है। उसका मन मस्ती से भर गया। नीचे की जमीन से अब उसे कोई वास्ता नहीं था। वह जिन्दगी भर ऊपर ही ऊपर झूलता रह सकता था। उसे यह भी लगा जैसे उसके अन्दर से कुछ पत्तियाँ फूटने वाली हों। उसने सोचा कि अगर उसमें फूल भी निकलेगा, तो उसका क्या रंग होता? और क्या वह अपनी मर्जी से फूल का रंग बदल सकेगा?

पर तभी दो-तीन कौवे उस पर आ बैठे। एक न उस पर बीट कर दी, दूसरे ने उसे चोंच से कुरेदना शुरू किया। उसे

बहुत तकलीफ हुई। उसे फिर अपनी गलती के लिए पश्चाताप हुआ। अगर वह टहनी की जगह कौवा बना होता तो कितना अच्छा था! जब चाहो, जिस टहनी पर जा बैठो, और जब चाहो, हवा में उड़ान भरने लगे! अभी वह सोच ही रहा था कि कौवे उड़ खड़े हुए। पर उसने हैरान होकर देखा कि कौवों के साथ वह भी उसी तरह उड़ खड़ा हुआ है। अब जमीन के साथ-साथ आसमान भी उसके नीचे था। और वह ऊपर-ऊपर उड़ा जा रहा था। उसके पंख बहुत चमकीले थे। जब चाहो उन्हें झपकाने लगे, जब चाहे सीधे कर लो। उसने आसमान में कई चक्कर लगाए और खूब काँय-काँय की। पर तभी नजर पड़ी, नीचे खड़े कुछ लड़कों पर जो गुलेल हाथ में लिए उसे निशाना बना रहे थे। पास उड़ता हुआ एक कौवा निशाना बनकर नीचे गिर चुका था। उसने डरकर आँखें मूँद लीं। मन ही मन सोचा कि कितना अच्छा होता अगर वह कौवा न बनकर गिरगिट ही बना रहता। पर जब काफी देर बाद भी गुलेल का पत्थर उसे नहीं लगा, तो उसने आँखें खोल लीं। वह अपनी उसी जगह पर था जहाँ सोया था। पंख-वंख अब गायब हो गए थे और वह वही गिरगिट का गिरगिट था। वही चूहे-चमगादड़ आसपास मण्डरा रहे थे और साँप अपने बिल से बाहर आ रहा था। उसने जल्दी से रंग बदला और दौड़कर उस गिरगिट की तलाश में हो लिया जिसने उसे नींद की पत्ती खाने की सलाह दी थी। मन में शुक्र भी मनाया कि अच्छा है वह गिरगिट की जगह और कुछ नहीं हुआ, वरना कैसे उस गलत सलाह देने वाले गिरगिट को गिरगिटी भाषा में मजा चखा पाता!

~Ω~